मेरे भाई बलराज

भीष्म साहनी

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

शबनम
को समर्पित
अब जिसकी स्मृतियां भर शेष हैं

विषय सूची

1 बचपन

मेरे अग्रज बलराज का जन्म, पहली मई, 1913 को रावलपिण्डी मे हुआ था। मां सुनाया करती थीं कि प्रसूति के फौरन ही बाद, जब वह थकी-हारी, खाट पर पड़ी थी और उन्हें यह भी नहीं मालूम था कि बेटा पैदा हुआ है या बेटी, तो घर के बाहर सहसा बैंड बाजा बजने लगा था जिसे सुनकर वह बेहोश हो गई थीं। इससे पहले, जब भी घर में कोई बच्चा पैदा होता था,—और घर में, एक के बाद एक, पांच बेटियों ने जन्म लिया था—हमारे पिताजी के बड़े भाई श्री शिवदास, जो कट्टर विचारों के व्यक्ति थे, हर बार, प्रसूति के समय, घर के बाहर खाट बिछाये बैठे रहते थे, इस इन्तज़ार में कि अंदर से क्या खबर मिलती है, और जब बेटी के जन्म की खबर मिलती तो बड़बड़ाते, भाग्य को कोसते हुए उठकर चले जाते थे। पर अब की बार जब उन्हे पता चला कि बेटा पैदा हुआ है तो वह भागे हुए बाज़ार गये, और बैंड बाजा बुला लाये। उसी की आवाज सुनकर मां बेहोश हो गयी थी। बलराज के जन्म के समय उन पांच बहनों में से केवल दो बहनें ही बच रही थीं, शेष तीनों एक के बाद एक, बचपन में ही भगवान को प्यारी हो चुकी थी।

पुत्र जन्म के बाद बेटे का नाम युधिष्ठिर रखा गया था, जिसे हमारे पंजाबी घर में 'युधिस्टर' कह कर पुकारा जाने लगा। हमारी एक बुआ तो इसका उच्चारण 'रजिस्टर' तक करने लगी थीं। इस कारण शीघ्र ही नाम बदल कर बलराज रखा गया। उन दिनों पंजाब के आर्यसमाजी परिवारों में, बच्चों के नाम, रामायण-महाभारत में से चुन चुन कर रखने की प्रथा चल पड़ी थी। जहां बच्चों को पहले से पंजाबी नाम दिये जा चुके होते, वहां भी उन्हें, बदल कर हिन्दी नाम दिये जाने लगे थे। मेरी एक बहन, वीरां वाली का नाम बदल कर वेदवती रखा गया था।

बलराज का जन्म एक सीधे-सादे, धर्मभीरू, मध्यवर्गीय परिवार मे हुआ

था। हमारे पिता, श्री हरबंस लाल साहनी, व्यवसाय से आयात का व्यापार करते थे, उन्होंने बड़ी गरीबी के दिन देखे थे, और बाद में अपनी मेहनत के बल पर ही कुछ धन-संपत्ति जुटा पाये थे। जीवन के आरंभ में वह रावलपिण्डी के कमिस्सेरियट में एक क्लर्क के तौर पर नौकरी करते रहे थे। बाद में नौकरी छोड़ कर वह स्वतंत्र रूप से आयात का व्यापार करने लगे थे। बलराज के जन्म के समय तक पिता जी नगर में एक जाने-माने प्रतिष्ठित व्यक्ति का दर्जा आर्थिक संपन्नता की दृष्टि से भी और एक निष्ठावान आर्यसमाजी के नाते हासिल कर चुके थे। आर्यसमाज के प्रति पिता जी का लगाव धार्मिक मान्यताओं अथवा धर्माचार की दृष्टि से इतना अधिक नहीं था, जितना समाज-सुधार के कामों में आर्यसमाज की सक्रियता के कारण।

हमारे परिवार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बारे में तरह-तरह के किस्से-कहानियां घर में प्रचलित थीं। मूलतः हम लोग पंजाब के शाहपुर ज़िला में स्थित भेरा नामक कस्बे के (जो अब पाकिस्तान में है) रहने वाले हैं, जिसे छोड़कर हमारे पुरखा रावलपिण्डी में जाकर बस गये थे। भेरा, जेहलम नदी के तट पर स्थित, सदियों पुराना मध्ययुगीन कस्बा है, जो किसी ज़माने में वाणिज्य और व्यापार का एक केन्द्र हुआ करता था। प्राचीन काल में यह मात्र कस्बा न होकर किसी राजवंश की राजधानी भी रह चुका था। महमूद गजनवी का एक हमला इसी शहर भेरा पर भी हुआ था और यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी चर्चा करना कोई भी भेरा निवासी कभी नहीं भूलता। कस्बे के इर्द-गिर्द लाल पत्थर की ऊंची दीवार हुआ करती थी, जिसमें चार बड़े-बड़े फाटक थे पर वक्त के थपेड़ों से यह दीवार अब खण्डहर बन चुकी थी। कस्बे के अंदर किसी राजा का शीशमहल भी हुआ करता था, पर अब उसकी भी एकाध टूटी-फूटी दीवार को छोड़ कर अब कुछ भी शेष नहीं रह गया था। बलराज ने जीवन में दो बार भेरा की यात्रा की थी। पहली बार, बचपन के दिनों मे, हमारी बड़ी बहन की शादी के समय जब प्रथानुसार हमारा सारा परिवार शादी की रस्म करने भेरा मे गया था। यह लगभग 1921 का वर्ष रहा होगा। और दूसरी बार 1961 में, जब देश के बंटवारे के लगभग पन्द्रह साल बाद, वह अपनी मातृभूमि की यात्रा करने गये थे। भेरा, बलराज के मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ गया जान पड़ता है। कई बातों में वह सचमुच बड़ा विचित्र शहर था। हमारी जानकारी मे, वही एक ऐसा नगर था जो जात-पांत के आधार पर मुहल्लों और गलियों मे बटा हुआ था। इस तरह कस्बे में, साहनियों और सेठियों और कोहलियों आदि के अलग-अलग मुहल्ले थे। जिस समय हमारे पुरखे वहां से निकले, उस समय तक नगर, एक बहुत

बड़े खण्डहर का रूप लेने लगा था। किसी जमाने में यह नगर जेहलम नदी के तट पर बसा था, पर धीरे-धीरे नदी का पाट दूर होता गया था जिससे आवा-जायी और तिजारत में बाधा पड़ने लगी थी। साथ ही कहते हैं, जमीन में से शोरा निकलने लगा था, जिससे खेती बर्बाद होने लगी थी। परिवार के साथ जब बलराज पहली बार यहां आये थे, तभी वह शहर उजड़ा हुआ-सा नज़र आता था। बहुत से घर टूट-फूट चुके थे, कुछेक घरों के दरवाजों पर, मध्ययुगीन नक्क़ाशी का सुंदर काम देखने को मिलता था पर साथ ही उन पर बड़े-बड़े ताले लटक रहे होते, और आस-पास की दीवारें गिर कर मलबे का ढेर बनी होती थीं।

कहते हैं इससे पहले भी एक बार हमारे पुरखों ने अपना वतन छोड़ा था। और कहा जाता था, कि तब हमारे पुरखे काबुल (अफ़ग़ानिस्तान) छोड़ कर आये थे। यह कब हुआ, इसके बारे में तो सही जानकारी नहीं मिल पाती, पर सुनते हैं कि किसी राजनैतिक संकट के कारण अफ़ग़ानिस्तान से बहुत से लोग जान बचा कर भागे थे, और उनमें, महेश दास साहनी नाम के हमारे एक पुरखा भी थे, जो अपने बाल-बच्चों तथा सगे-संबंधियों के साथ शाहपुर जिले में आकर बस गये थे। इस तरह हमारा परिवार वतन छोड़ने का पर्याप्त अनुभव ग्रहण कर चुका है, शरणार्थियों और विस्थापितों की स्थिति से भी बहुत कुछ जानकारी हासिल कर चुका है कुछ ही बरस पहले 1947 में, देश के बंटवारे के बाद, वतन छोड़ने का एक और अनुभव भी हमे हो चुका है, जब हम रावलपिण्डी छोड़ कर भारत आये थे।

हमारे दादा, लाला ठाकुरदास, रावलपिण्डी में किसी वकील के पास मुंशी का काम करते थे। उनकी पत्नी, हमारी दादी के बारे में कहा जाता है कि वह एक विलक्षण प्रतिभा वाली महिला थी, स्वभाव से निर्भीक और साथ ही बड़ी विनम्र और भगवत्प्रेम में रंगी हुई। सुनते हैं कि जब उनके एक जवान बेटे की मृत्यु हुई तो वह बेटे के सिर को गोदी में रखे, घंटों बैठी मंत्रों का जाप करती रही थीं। बड़े धैर्य और शांति से उन्होंने अपने बेटे की मृत्यु का आघात सहा था। यह भी सुनते हैं कि वह कभी-कभी कविता भी कहती थी, और उनके पद, भक्तिभाव तथा भगवत्प्रेम से ओत-प्रोत हुआ करते थे। अगर यह सच है कि बच्चे और नाती-पोते, अपने पुरखों से बहुत कुछ विरासत में प्राप्त करते हैं, तो दादी-मां का प्रभाव भी उन के नाती-पोतों पर पड़ा होगा, जिनमें से कुछेक में निश्चय ही साहित्यिक रुचि पायी जाती थी। उनके स्वभाव की दृढ़ता, निष्ठा आदि के बारे में, परिवार में तरह-तरह की कहानियां प्रचलित थी। एक बार हमारे पिता को, जो उन दिनों कमिस्सेरियट में एक

छोटे-क्लर्क थे, एक ठेकेदार की ओर से, उसके बिल पास हो जाने पर, दस रुपये की 'भेंट' प्राप्त हुई। शाम को घर लौट कर जब उन्होंने ये दस रुपये अपनी मां के हाथ में दिये, और मां को पता चला कि यह 'भेंट' के पैसे हैं तो मां इतनी बिगड़ीं कि उन्हें उन्हीं कदमों ठेकेदार के घर भेज दिया, और उस वक्त तक घर के अंदर पांव नहीं रखने दिया जब तक वह 'भेंट' के पैसे लौटा नहीं आये।

बलराज का बचपन जिस परिवेश और जिस घर में बीता, वह भी अपनी तरह का था। पिता जी, व्यापार तो करते थे पर न तो उनकी कोई दुकान थी, न ही बाकायदा दफ्तर था। अपने घर के अंदर ही, निचली मंजिल पर, उन्होंने एक कमरे को अपना दफ्तर बना रखा था, और वहीं से वह अपना सारा व्यापार चलाते थे। कुछेक फ़ाइलें, एक पुराना टाइपराइटर, एक मेज, दो-चार कुर्सियां. बस, यही उनका व्यापार-कार्यालय था। हफ्ते में एक बार, बहुधा बृहस्पतिवार के दिन, वह टाइपराइटर के सामने बैठ जाते थे और एक अंगुली से टाईप करते हुए अपनी विलायती डाक टाईप किया करते थे। उन्होंने टाईप करना सीखा ही नहीं था। घर मे उस दिन को 'विलायती डाक का दिन' कहा जाता था, उस दिन हम बच्चों को उनके दफ्तर के अंदर जाने की मनाही थी, और हम गुप-चुप, दबे पांव एक कमरे से दूसरे कमरे मे घूमते रहते। बृहस्पतिवार की शाम को ही विलायती डाक डाकघर मे डाली जाती थी। उसी दिन सुबह को पिता जी अपनी डाक लिखने बैठते थे। यह आज भी मेरे लिए एक रहस्य बना हुआ है कि पिता जी अपनी डाक सप्ताह के अन्य दिनों में क्यों नही लिखते थे। उस दिन सारा परिवार दम साधे बैठा रहता था। और पिता जी, चिट्ठियां टाईप करने में घंटों लगा देते थे, और इसका नतीजा यह होता था कि डाक अक्सर रेलवे स्टेशन पर डाली जाती थी। घर का एकमात्र नौकर, तुलसी, भागता हुआ, या तो नगर के बड़े डाकखाने मे, या फिर रेलवे स्टेशन पर चिट्ठियां डालने जाता था। वक्त की पाबंदी, व्यवस्था नियमितता, ऐसे गुण, जो अक्सर आयात-व्यापारियों मे पाये जाते हैं, पिता जी में, ढूंढ़ने को भी नहीं मिलते थे। बृहस्पतिवार की डाक से निबट चुकने के बाद, पिता जी फिर से अपनी सामान्य दिनचर्या मे लौट आते थे—सुबह को लम्बी सैर, दिन के वक्त थोड़ा अध्ययन, थोड़ा आराम, और आर्य-समाज और उसकी विभिन्न संस्थाओं की सरगर्मियों मे सहयोग। व्यापार गौण हो जाता: और आर्यसमाज के काम, जिनमें वह बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे प्राथमिकता ग्रहण कर लेते।

पिता जी इन्डेंट का व्यापार करते थे। उनके अधिकांश ग्राहक दूर-दराज

के शहरों में रहते थे, जैसे कोयटा, काबुल, श्रीनगर, पेशावर आदि। और माल ज्यादातर इंगलैंड और फ्रांस से मगवाया जाता [illegible]। कारण [illegible] व्यापार-कार्य का बहुत-सा भाग चिट्ठियां लिखने [illegible] होता था, और हमें बाद में पता चला कि वह चिट्ठियां लिखने में बड़े माहिर थे।

उनके दफ्तर के पीछे एक जुड़वां कमरा था जिसमें तरह-तरह के नमूने बक्सों में भरे रहते थे। कभी-कभार ही यह कमरा खोला जाता था, पर बलराज के लिए यह कमरा अलीबाबा की गुफा से कम नहीं रहा होगा। यहां एक बार पहुंच जाओ तो कुतूहल शांत ही नहीं हो पाता था। एक से एक अलौकिक नमूने भरे रहते, सुनहरी लिखावट अथवा चित्रों से सजे चीनी के प्याले, किसी पर लिखा होता "Remember me", किसी पर 'Forget me not" आदि, बांके दस्ते वाले चाकू, फ्रांस से भेजी गयी मुह पर लगाने वाली खुशबूदार क्रीमें, तरह-तरह की पेंसिलें, कपड़े के नमूने जिन पर तरह-तरह की रंगीन तस्वीरें लगी रहती, किगरी-फीते, सुनहरी लेस आदि-आदि। ऐसा तो नहीं था कि पिता जी इन सबमें व्यापार करते हों। निर्यात की फर्में पिता जी को ये नमूने भेज दिया करती थीं क्योंकि आयात व्यापारियों में उनकी प्रतिष्ठा थी। यों मूलतः वह Braids and Laces का आयात करते थे और यह माल फ्रांस के शहर लायन्स से बन कर आता था और पिता जी पेशावर, कोयटा, काबुल आदि के अपने व्यापारियों को बेचा करते थे। इससे पहले उन्होंने हरी चाय का बहुत दिन तक व्यापार किया था और यह चाय शंघाई में आया करती थी जिसे वह काबुल, पेशावर और काश्मीर आदि में बेचा करते थे। इस चाय की भी अनगिनत डिब्बियां उस अनोखे कमरे में पड़ी रहती थी।

पिता जी को किसी बात की जल्दी नहीं हुआ करती थी, और इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि वह कोई भी काम वक्त पर नहीं कर पाते थे। जब दोपहर के भोजन का समय होता तो वह स्नान करने चले जाते, जब शाम के भोजन का समय होता तो वह छड़ी उठा कर घूमने निकल जाते थे। जब परिवार के अन्य सदस्य उनकी राह देखते हुए रसोईघर में बैठे होते—क्योंकि हम लोग रसोईघर के अंदर ही बैठ कर खाना खाते थे—तो पिता जी बाहर से लौटकर संध्या करने बैठ जाते थे।

रसोईघर में सायंकाल के भोजन का समय दिनचर्या का सर्वोत्तम भाग हुआ करता था। माता जी चूल्हे के सामने बैठी चपातियां सेंका करती, जबकि हम चारों बच्चे—हमारी दो बड़ी बहनें और हम दोनों भाई—दो-दो व्यक्ति एक-एक थाली में से भोजन करते। बलराज घर के लोगों को तरह-तरह के किस्से सुनाते, तरह-तरह के लोगों की नकल उतारते—वह नकल उतारने में

बेजोड़ थे, और घर के लोग हँसी से लोट-पोट होते रहते। घर का नौकर, तुलसी, जो पुँछ ज़िले के रूमली नामक गांव का रहने वाला युवक था, पिछले बारह वर्ष से हमारे घर में काम कर रहा था। जब कभी वह कोई अटपटी सी टिप्पणी करता तो हमारी दोनों बहनें अपनी हंसी नहीं रोक पाती थी और हंसी से उनके पेट में बल पड़ने लगते थे। तुलसी को छेड़ने में उन्हें बड़ा मजा आता था। इस हँसी में पिता जी भाग लेने लगते। अपनी आदत के मुताबिक, हँसने से पहले वह ताली बजाया करते थे। पर जब कभी वह नहीं भी हँसतें, तो उनकी आंखों में, अपने बच्चों के प्रति स्नेह की हल्की-सी चमक बनी रहती थी।

भोजन के बाद, हम दोनों भाई तो बिस्तर में दाखिल हो जाते, और पिता जी घर के बड़े कमरे में, धीरे-धीरे ऊपर-नीचे टहलने लगते, और मां के साथ गप्प-शप्प, टीका-टिप्पणी करते, जो उस समय खाट पर बैठी छोटा-मोटा सीने-पिरोने का काम कर रही होतीं। पिता जी तत्कालीन घटनाओं पर टिप्पणी करते, जिन का संबंध विशेष रूप से आर्यसमाज की गतिविधियों के साथ हुआ करता था। वह अक्सर समाज-सुधार की आवश्यकता की चर्चा करते, या इस बात की कि बच्चों को आशावादी और निष्ठावान बनाना चाहिए। वह हिन्दी और संस्कृत के अध्ययन पर भी बल देते। मुसलमानों की भूमिका पर टीका करते और कहते कि मुसलमानों के प्रभाव के कारण हिन्दू समाज धरातल को जा रहा है, आदि-आदि।

मां धार्मिक वृत्ति की तो थीं पर कई बातों में पिता जी से बहुत भिन्न थीं। वह अधिक स्वतंत्र विचारों वाली थी। पिता जी की मान्यताओं का वह सदा समर्थन करती हों, ऐसा नहीं था, बल्कि वह अक्सर आर्यसमाज की, और पिता जी की भी कड़ी आलोचना किया करतीं। वह अक्सर गुरुद्वारे में जाती, गुरुवाणी का जाप करतीं, और कभी-कभी 'सनातनी' साधु-संतों के प्रवचन सुनने भी मंदिरों में पहुंच जाती। मां अधिक पढ़ी-लिखी नहीं थी, मात्र अक्षर-बोध से, उन्होंने अपनी मेहनत से अच्छा पढ़ना-लिखना सीख लिया था। उनका दिमाग बहुत अच्छा था। वह पंजाबी और हिन्दी दोनों भाषाओं में पढ़ना सीख गयी थीं। उनकी जिज्ञासा इतनी प्रबल थी, कि वह बुढ़ापे में स्वयं ही उर्दू और अंग्रेजी सीखने में जुट गयी थी, और एक बार तो संस्कृत की पाठ्य-पुस्तिका भी ले बैठी थी, पर अपनी परिस्थितियों से किसी प्रकार का प्रोत्साहन न मिल पाने के कारण ज्यादा दूर नहीं जा पायी।

पिता जी की तुलना में मां अधिक दृढ़ स्वभाव वाली थीं। पिता जी सादा तबीयत के व्यक्ति थे, उन्हें इस बात की कोई परवाह नहीं रहती थी कि कोई कैसे कपड़े पहनता है या कैसे उठता-बैठता है। मां की सदा यह उत्कट इच्छा

रहती कि उनके बच्चे ढंग से कपड़े पहनें, साफ-सुथरे रहें, उनके पास खेल-कूद का सामान हो, उन्हें मेलों-ठेलों पर ले जाया जाय, आदि-आदि। जब भी कोई पर्व आता, जैसे दशहरा या दीवाली, तो घर मे झगड़ा उठ खड़ा होता। मा कहतीं, सब काम छोड़ कर बच्चों को मेला ले जाओ। पिता जी की इसमें कोई विशेष दिलचस्पी नहीं हुआ करती थी। एक बार दशहरा के मौके पर पिता जी, हम दोनों भाइयों को, मेला ले गये। खूब मजा आया पर दिन बीतते न बीतते, हम दोनों भाई एक-दूसरे से अलग हो गये और कहीं खो गये थे। पिता जी का कही पता न था। उन्हें आर्यसमाज का कोई सदस्य मिल गया था और वह उसके साथ बातों में उलझ गये थे। बाद में घर लौटने पर जब उन्होंने देखा कि बच्चे घर नहीं लौटे हैं तो वह बहुत परेशान हुए। बाद में आर्य समाज के अनेक सदस्य, चपरासी और घर का नौकर हमें ढूंढने निकले, और अत में जब हमें खोज निकाला गया तो बलराज शहर के एक सिरे पर मिले और मैं, दूसरे सिरे पर। हर इसके बावजूद, मेलों-ठेलों के प्रति मा के उत्साह मे कोई अंतर नहीं आया। घर में पहली बार मां की ही ज़िद पर हारमोनियम बाजा आया, और बाद में ग्रामोफोन।

कभी-कभी मां, अकेले में, हमे गीत सुनाया करती और अक्सर वे गीत वैराग्य के उदासी भरे गीत हुआ करते। जिनमें जीवन की निःसारता और नश्वरता पर बल दिया गया होता था। मां गा रही होती तो कई बार, नीचे अपने दफ्तर में से पिता जी की आवाज आती। वह मां को मना करते कि ऐसे गीत मत गाओ। बच्चों के कान में वैराग्य के गीत नहीं पड़ने चाहिए। इन्हें सुनाना है तो खुशी भरे गीत सुनाया करो, आशावादी गीत, जिनसे इनका हौसला बढे। पर लगता है कि मां के मन में कही उदासी घर कर गयी थी। शायद इसका एक कारण यह रहा हो कि वह अपने गृहस्थ जीवन मे एक के बाद एक, अपने तीन बच्चों को खो बैठी थी।

पर जहां तक घर-गृहस्थी के संचालन का सवाल था, दोनों लगभग एक बराबर थे। मा अक्सर चाभियों का गुच्छा कही रखकर भूल जाती, और फिर उसे ढूंढने के लिए परिवार के सभी लोग घर का कोना-कोना छान मारते। कई बार तो नजूमी को बुलाना पडता कि आकर बताये कि चाभियों का गुच्छा कहां पड़ा है। दूध अक्सर उबल कर बाहर गिरने लगता, और दही कभी जमता तो कभी नही जमता था। सब्जी-सालन बनाने मे भी मा बहुत कुशल नही थी। घर की निचली मंज़िल पर एक 'गराज' हुआ करता था, जहां गाय बंधी रहती थी। बछड़ा आये दिन रस्सी तुडा कर गाय का आधा दूध पी जाया करता था। दोपहर के भोजन के बाद मा 'संग-सियापे' चली जाती, नाती-

रिश्तेदारों से मिलने, या किसी सत्संग में भाग लेने, और उसके बाद कभी-कभी किसी घुमक्कड़ साधु की कथा सुनने भी पहुंच जातीं। नतीजा यह होता कि घर को देर से लौटतीं, और फिर हड़बड़ी में जैसे-तैसे, भोजन तैयार करतीं।

परंपरागत रहन-सहन वाला घर था, परिवार छोटा-सा था पर बड़ा सुगठित। पिता जी धार्मिक वृत्ति के थे पर कट्टरपंथी नहीं थे। हम सब दिन में दो बार प्रार्थना करते, सुबह और शाम, पर कोई निर्धारित प्रार्थना नहीं रहती थी। कभी-कभी घर में हवन भी किया जाता, जब घर के सभी लोग अग्निकुण्ड के इर्द-गिर्द बैठ जाते, इनमें घर का नौकर, तुलसी, भी शामिल होता था, जिसे परिवार का ही सदस्य माना जाता था। बलराज को हवन बहुत पसंद था, हालांकि हममें से किसी को भी उन वेदमंत्रों के अर्थ मालूम नहीं थे, जिनका हम उच्चारण करते, न ही हम उन विधियों का महत्व समझते, जिनके अनुसार हवन किया जाता था। पर बलराज के लिए हवन में बड़ा आकर्षण था। मैं नहीं जानता कि वे आग की नाचती लपटें थीं, या समिधाओं का विधिवत् अर्पण, या सामग्री में से उठने वाली सुगंध या फिर मंत्रोच्चारण से पैदा होने वाला लयपूर्ण वातावरण, या शायद ये सब मिल कर ही उसे आकर्षक बना देते थे, पर लड़कपन में बलराज सचमुच बड़े चाव से हवन में भाग लेते।

परिवार के अपने नैतिक विधि-नियम थे—आज्ञा-पालन, अपने से बड़े भाई-बहन को 'जी' कह कर पुकारना, उनका हुक्म मानना, सच बोलना, अप-शब्द मुंह से नहीं निकालना, नियमित रूप से संध्योपासना करना आदि, सभी इनमें आ जाते थे। पिता जी सादगी पर बड़ा बल दिया करते थे। बलराज का सिर घुटा रहता और उस पर अच्छी-खासी चुटिया झूलती रहती। सिनेमा हमारे लिए निषिद्ध था। ठंडे पानी से स्नान लंबी सैर, ऐसा पठन-पाठन जिससे चरित्र का विकास हो, और ऐसा पौष्टिक भोजन जिससे स्वास्थ्य बने। ऐसी ही दिनचर्या हुआ करती थी। घर के दो-एक कमरों में नीति-वाक्य, टंगे रहते थे :

'सादापन जीवन, सजावट मृत्यु है
त्याग जीवन, विलास मृत्यु है'

आदि-आदि।

तुलसीकृत रामायण के भी कुछेक पद वहां टांग दिये गये थे :

'जहां सुमति तहां सम्पत्ति नाना
जहां कुमति तहां विपत्ति निदाना'

आदि।

पर साथ ही हमारे जीवन-यापन में कुछेक ऐसी अनूठी बातें भी थीं, जो हम बच्चों की समझ में नहीं आती थीं। एक व्यापारी होने के नाते, पिता जी के बहुत-से ग्राहक मुसलमान दुकानदार थे, जिनमें अनेक पठान भी थे, जो कभी-कभी हमारे घर पर आते रहते थे। पिता जी मुसलमान जाति की तो निंदा किया करते थे, पर जब ये मुसलमान व्यापारी घर पर आते तो इनकी बड़ी आव-भगत करते, इनसे बड़े चाव और आदर-सत्कार से मिलते। उन्हें वह घर पर भोजन भी कराते, पर उनके चले जाने के बाद, उन बर्तनों को, जिनमें उन्होंने भोजन किया था, जलते अंगारों के साथ साफ़ किया जाता था—जबकि सामान्यतः हमारे घर में इस तरह से बर्तन साफ नहीं किये जाते थे। जिस मुहल्ले में हम लोग रहते थे, वहां की अधिकांश आबादी मुसलमानों की थी। मुसलमान पड़ोसियों के साथ पिता जी के संबंध बड़े स्नेहपूर्ण थे। पर फिर भी पिता जी, मुसलमान बच्चों के साथ, गली-मुहल्ले में हमें खेलने नहीं देते थे। हमारी दोनों बहनें आर्यसमाज द्वारा संचालित कन्या पाठशाला में पढ़ती थीं, पर हैरानी की बात यह है कि पिता जी ने उन्हें स्कूल में से उस समय उठा लिया जब वे अभी मिडिल कक्षा तक भी नहीं पहुंच पाई थीं। इन दो बहनों पर तरह-तरह की पाबंदियां भी थीं। हमारे घर की ऊपर वाली मंज़िल पर एक छज्जा था जो सड़क की ओर खुलता था। हमारी बहनों को उस छज्जे पर जाने की मनाही थी, घर की किसी भी खिड़की में से झांकने की भी मनाही थी। उनसे इस बात की अपेक्षा की जाती थी कि वे ऊंची आवाज़ में हंसें-बोलें नहीं। कभी अनजाने में अगर उनकी आवाज़ ऊंची उठ जाती जो पड़ोसियों के कान में पड़ सकती हो, तो पिता जी अपने दफ्तर में बैठे-बैठे ही ऊंची आवाज़ लगाते और सख्ती से डांट दिया करते थे। बाहर सड़क पर चलता कोई राहगीर कोई इश्किया गीत या पंजाबी टप्पा गाता हुआ गुज़रता तो हम बच्चों को हिदायत थी कि हम अपने दोनों हाथ कानों पर रख लें ताकि गीत के बोल हमारे कानों में न पड़ सकें।

ऐसा था उस घर का माहौल जिसमें बलराज का बचपन बीता था।

आर्यसमाज के साथ पिता जी का लगाव बहुत गहरा था। यहां तक कि उन्होंने अपने दोनों बेटों को किसी सामान्य स्कूल में भेजने की बजाय एक गुरुकुल में दाखिल करवा दिया, जो शहर के बाहर स्थित था। यह गुरुकुल पोठोहार के नाम से जाना जाता था और जिसका संचालन आर्यसमाज का गुरुकुल विभाग कर रहा था।

बलराज का गुरुकुल में प्रवेश बड़ा विधिवत हुआ। बलराज के सिर पर उस्तरा फेरा गया, और बाकायदा हवन तथा वेदमंत्रों के उच्चारण के बीच

बलराज को यज्ञोपवीत पहनाया गया और ब्रह्मचारियों की पीली धोती पहनायी गयी। विधि सम्पन्न होने पर, बलराज के हाथ मे कमण्डल और झोला देकर उसे प्रथानुसार, उपस्थित संबंधियों-मित्रों के बीच भिक्षा अजित करने भेज दिया गया। उपस्थित लोगों में अधिकांश, पिता जी के आर्यसमाजी मित्र थे, और वे कमण्डल में रेजगारी और छोटे-बड़े नोट डालते गये। विधि का यह पक्ष मां को अच्छा नही लगा। उन्हे यह देख कर और भी ज्यादा गुस्सा आया जब 'गुरु जी' ने गुरुदक्षिणा के नाम पर कमण्डल के सारे पैसे अपने जेब में डाल लिये और वहां से चलते बने।

गुरुकुल शहर के बाहर, एक दो मंज़िला इमारत में स्थित था, हमारे घर से लगभग चार मील की दूरी रही होगी। बलराज की उम्र उस समय छः या सात वर्ष की थी, पर सारा रास्ता पैदल जाना और लौटना पड़ता था। हम उन छात्रों मे से नही थे जो गुरुकुल में ही रहते थे। हम केवल दिन के समय वहां जाते थे। कुछ समय बाद, हमारी मुश्किल आसान करने के लिए, पिता जी ने हमारे लिए एक घोड़ा खरीद दिया ताकि उस पर बैठ कर हम गुरुकुल जा सकें। यों, इसे घोड़े का नाम देना, शब्दों के साथ खिलवाड़ ही करना है, क्योंकि वह वास्तव में एक मरियल-सा बूढ़ा टट्टू था, जिसे सुबह के वक्त दो लड़कों को अपनी पीठ पर बैठा कर शहर के बाहर ले जाना बिल्कुल मंजूर नही था, और जिस कारण घर के नौकर तुलसी को हिदायत थी कि वह आगे से उसकी लगाम पकड़ कर खीचता हुआ उसे ले जाये। पर शाम को घर लौटते समय जाने सहसा कहां से उसमे फुर्ती आ जाती कि वह घर की ओर सरपट भागने लगता और कभी-कभी हमें पीठ पर से नीचे भी पटक देता था।

गुरुकुल में अध्यापन के नाते मुख्यतः व्याकरण और संस्कृत भाषा पर ही बल दिया जाता था। गुरुकुल में उस प्रदेश के सभी भागों से आने वाले लगभग चालीस ब्रह्मचारी रहते और शिक्षा ग्रहण करते थे। इनमे से अधिकांश ग़रीब घरों के थे। बलराज को 'लघु कौमुदी', 'ऋजु पाठ' तथा हितोपदेश' पढ़ाये जाते थे। बलराज को व्याकरण के सूत्र बड़ी जल्दी कण्ठस्थ हो गये। उन्हें थोड़े अर्से में ही 'लघु कौमुदी' के एक सौ से अधिक सूत्र, टीका सहित, कण्ठस्थ हो गये थे। पर बलराज को इस बात का तनिक भी ज्ञान नही था कि उन सूत्रों का अर्थ क्या है। बलराज की लिखाई भी बहुत सुंदर थी, और सामान्यतः उन्हे एक प्रतिभा-सम्पन्न, आज्ञाकारी और पैनी सूझ वाला बालक माना जाता था। ब्रह्मचारियों की पीली धोती में तो वह सचमुच एक तरुण बौद्ध भिक्षु नज़र आते थे।

रविवार के दिन, गुरुकुल के सभी विद्यार्थी पीली धोतियां पहने, एक

वानप्रस्थी जी के नेतृत्व में, शहर की गलियां लांघते हुए, गुरुकुल से आर्य-समाज मंदिर में लाये जाते थे। घुटे सिर, एक पांत में चलते हुए, हाथों में छोटी-छोटी लाठियां, देखने में ये सचमुच बौद्ध भिक्षु ही नज़र आते थे। आर्य-समाज के दो 'विभाग' थे, और पिता जी का संबंध इनमें से 'कालिज विभाग' के साथ था, जो पाश्चात्य ढंग की आधुनिक शिक्षा परिपाटी का समर्थन करता था और तदनुसार अनेक डी. ए. वी. दयानन्द आंग्ल-वैदिक स्कूलों तथा कालिजों का संचालन भी कर रहा था। दूसरा विभाग, जो 'गुरुकुल विभाग' कहलाता था, प्राचीन, वैदिक शिक्षा प्रणाली का समर्थक था। 'कालिज विभाग' के साथ निकट के संबंध रहते हुए भी, पिता जी ने इस विचार से कि बच्चों को सबसे पहले हिन्दी-संस्कृत का ज्ञान होना चाहिए, अपने बेटों को गुरुकुल में दाखिल करवा दिया था।

परन्तु एक दिन सहसा ही, गुरुकुल की पढ़ाई का यह चरण समाप्त हो गया। बलराज ने अचानक ही एक दिन घोषणा कर दी कि वह गुरुकुल में पढ़ने नहीं जायेगा। मुझे आज तक वह दिन याद है, जब दोपहर के वक्त, पिता जी दफ्तर में बैठे थे और उनके मेज़ के सामने बलराज खड़ा था, उसका चेहरा तमतमा रहा था, और उसकी आवाज़ में दृढता की गूंज थी।

पिता जी ने टाइपराइटर पर से सिर उठाया। मैं डर रहा था कि पिता जी की भवें चढ़ जायेंगी और उन्हें इस घोषणा से एक तरह का धक्का-सा लगेगा। पर पिता जी ने केवल पलकें उठायीं और बोले :

"क्यों? क्या बात है? तुम गुरुकुल में क्यों नहीं पढ़ना चाहते?"

"वहां वे कुछ नहीं पढ़ाते। मैं गुरुकुल में नहीं किसी स्कूल में पढ़ना चाहता हूं।"

क्षण भर के लिए बड़ी तनावपूर्ण चुप्पी छायी रही। फिर सहसा, पिता जी के चेहरे पर मुस्कान फैल गयी, एक स्निग्ध, स्नेहपूर्ण मुस्कान। पिता जी कुर्सी पर से उठे, और दफ्तर में से निकल कर घर के अंदर वाले आंगन में गये और मां को आवाज़ लगायी। पिता जी अक्सर, ऐसे मौक़ों पर जब घर में कोई समस्या उठ खड़ी होती थी, मां से मश्विरा करने के लिए उन्हें आवाज़ लगा कर नीचे बुला लिया करते थे।

मां आयीं, और दोनों हाथ गोद में रखे बेंच पर बैठ गयीं। ज्यों ही मां को बलराज के निर्णय का पता चला तो वह झट से बोलीं, "ठीक ही तो कहता है। आपके किसी दूसरे आर्यसमाजी भाई ने भी अपना बेटा गुरुकुल में भेजा है? और मेरे बेटे ने ही क्या कुसूर किया है कि वह यतीमों की तरह पढ़े।"

मां के दिल में पहले भी गुरुकुल के प्रति कोई उत्साह नहीं पाया जाता था।

उन्हें इस बात की तो बहुत परवाह नहीं थी कि वहां की पढ़ायी अच्छी है या बुरी है, पर उन्हें इतना जरूर मालूम था कि वहां पर ब्रह्मचारी गरीबों की तरह रहते हैं, और यह माता जी को पसंद नहीं था। बड़ी मुस्तसर-सी बैठक हुई। बलराज का चेहरा अभी भी तमतमा रहा था, और नसें तनी हुई थीं। हमें आशा नहीं थी कि पिता जी इतनी जल्दी नर्म पड़ जायेंगे। वह फिर मुस्कराये और कहने लगे :

"मैं ज्यादा देर तो तुम्हें वहां रखना भी नहीं चाहता था। मैं तो चाहता था कि हिन्दी और संस्कृत में तुम्हारी जमीन मजबूत हो जाये। कल से तुम डी. ए. वी. स्कूल में जाओगे।"

गुरुकुल की पढाई का यह संक्षिप्त-सा अध्याय इस तरह समाप्त हुआ। दूसरे दिन बलराज को डी. ए. वी. स्कूल की चौथी जमात में दाखिल करा दिया गया। हां, हिन्दी और संस्कृत का अध्ययन अब घर पर होने लगा। एक पंडित जी, जो डी. ए. वी. स्कूल के ही अध्यापक थे, हर रोज दोपहर को घर पर आने लगे और यह सिलसिला अगले पांच या छः वर्ष तक बराबर चलता रहा। स्कूल में शिक्षा का माध्यम उर्दू था। और पांचवीं कक्षा से अंग्रेजी की पढ़ाई शुरु कर दी जाती थी। अब इतने दिन बाद सोचने पर लगता है कि अगर बलराज ने साहस करके अपने दिल की बात न कह दी होती, तो अगले दो-तीन साल तक तो हम निश्चय ही गुरुकुल में ही घिसटते रहते।

स्कूल की जिन्दगी बिल्कुल दूसरे ढंग की थी, यहां आजादी ज्यादा थी, विविधता भी अधिक थी। अब बलराज बाहर गली-मुहल्ले में खेल सकता था, नये-नये दोस्त बना सकता था और वहां अक्सर निम्न-मध्यवर्ग के परिवारों के बच्चे ही अधिक संख्या में थे। इस तरह उसका अनुभव-क्षेत्र भी बढ़ने लगा था।

बलराज के स्कूली दिनों को याद करना मन को अच्छा लगता है। लड़कपन में उनमें बड़ा साहस और पहलकदमी पायी जाती थी और एक प्रकार की सजीव कल्पना भी जो नयी-नयी खोजें करना चाहती है। ये गुण पढ़ाई में भी उतने ही लक्षित होते थे जितने खेलकूद में। जहां तक खेलकूद का सवाल है, उन्हें नये-नये खेल खेलना बहुत पसंद था। एक बार आर्यसमाज मंदिर में एक सज्जन ने तीर-कमान के कर्तब दिखाये। दूसरे दिन बलराज ने भी अपने लिए तीर-कमान बना लिए और कभी आंखों पर पट्टी बांध कर कभी शब्दबेधी बाण, तो कभी शीशे में से अपने लक्ष्य को देख कर बाण चलाने लगा। हमारे वहां रावलपिण्डी में हर साल मार्च महीने में घोड़ों की मंडी लगा करती थी। यह जगह हमारे घर के नजदीक ही थी। मंडी खत्म होने पर वहां नेजाबाजी की प्रतियोगिता हुआ करती। घुड़सवार बारी-बारी से, हाथ में लंबे-लंबे नेजे उठाये,

घोड़ों को सरपट दौड़ाते हुए आते और जमीन में धंसे, लकड़ी के [illegible] को अपने नेज़े का निशाना बनाते। बलराज ने भी यह खेल शुरु कर दिया। नेज़े और घोड़े तो हमारे पास थे नही, इसलिए नेज़ाबाज को अपने पांवों के बल पर ही दूर से दौड़ कर आना पड़ता था, और नेज़े की जगह उसके हाथ में गुरुकुल की लाठी हुआ करती थी जिसके एक सिरे पर मेख गाड़ दी गयी थी। उन्हीं दिनों बलराज घर मे नाटक भी खेलने लगे थे। स्वामी दयानन्द, राणा प्रताप, श्रवण कुमार आदि के जीवन की कुछेक घटनाओं को वह नाटक के रूप प्रस्तुत करते। दर्शकों के नाते घर का नौकर तुलसी, हमारी दोनो बड़ी बहिनें, माता जी, हमारी मौसी और कभी-कभी पिता जी भी आकर बैठ जाते थे। बलराज हल्दी घाटी में राणा प्रताप का अभिनय करते या मूलशंकर का (स्वामी दयानन्द का बचपन का नाम) और उन्हें अपने चक्षुहीन वृद्ध गुरु स्वामी वृजानन्द की सेवा-शुश्रूषा करते हुए दिखाते। या फिर हमारे मुहल्ले की गलियो में सिकंदर और पौरस का ऐतिहासिक युद्ध हुआ करता, जब घरो की छतो पर से गुलेलों के माध्यम से गोले (कंकड़) बरसाये जाते। या फिर बलराज मेजिक लेन्टर्न के साथ स्वामी दयानन्द के जीवन पर व्याख्यान देते। स्लाइड के स्थान कागज के चौकोर पुरज़े होते थे, जिनमे कुछेक शब्द इस ढंग के अंकित कर लिये जाते कि मोमबत्ती की रोशनी के सामने कागज को रखने पर, सामने की दीवार पर वे शब्द फैल जाते थे। बलराज वह शब्द बोलते और फिर उसकी व्याख्या करते। जिन दिनों बलराज सातवी कक्षा मे पढ़ते थे उन्होंने 'हकीकत' नाम का एक पर्चा भी निकाला था। यह एक पन्ने की 'पत्रिका' थी, और इसे हाथ से लिखना पड़ता था, और इसमे स्थानीय हाकी-मैच, धार्मिक प्रवचन तथा ऐसे विवादास्पद विषय, जैसे मूर्तिपूजा, विधवा-विवाह आदि पर टिप्पणी दिये जाते थे। इस पत्रिका के तीन अंक निकले थे, और इसे छोड़ना भी इसीलिए पड़ा था कि इसे आद्योपांत हाथ से लिखना पड़ता था। इस तरह बलराज की सरगर्मियों में एक प्रकार की मौलिकता पायी जाती थी। वह शीघ्र ही किसी ऐसे खेल से थक जाते थे जिसे उन्होंने बहुत बार खेल लिया हो और उन पर एक नया खेल ईजाद करने की धुन सवार हो जाती थी। बाद मे भी, जीवन में, उन्हें एक ढर्रे पर बने रहना पसंद नही था, किसी काम-धंधे को या जीवन-निर्वाह की किसी बंधी-बधायी परिपाटी को वह ज्यादा देर तक बर्दाश्त नहीं कर पाते थे, और फौरन ही उसे झटक कर अलग कर देते और कोई दूसरा काम करने लगते थे। उनकी दृष्टि सदा आगे की ओर बनी रहती थी, और उन्हें अतीत के साथ मोह नहीं था। जब कभी उन्हें कोई बात सूझ जाती, तो शीघ्र ही उन पर एक जुनून-सा तारी हो जाता था। और जब तक वह उसे

कार्यरूप नहीं दे लेते थे, उन्हें चैन नहीं मिलता था।

छोटी उम्र में ही बलराज बड़े आजाद-ख्याल हुआ करते थे। केवल वही काम करते जो उन्हें रुचता था। ऐसा व्यवहार कई बार ऐसे बच्चों का भी होता है जिन्हें मां-बाप ने बहुत लाड़-प्यार से पाला हो और उनकी हर सनक मानते रहे हों। बलराज भी उन्हीं की भांति बड़ी आसानी से बिगड़ सकते थे। परिवार में वह पांच बहनों के बाद पहले बालक के स्थान पर आये थे। और हमारे माता-पिता इस बात में तो परंपरावादी थे ही कि ऐसे बालक के जन्म पर फूले न समायें जो कुल को आगे ले जाने वाला हो। शक्ल-सूरत से भी बलराज बड़े गोरे और सुंदर थे और सुंदर बच्चे जिनके चेहरे-मोहरे की हर कोई तारीफ करता हो, अक्सर अपने को बहुत कुछ समझने लगते हैं और ऐंठने लगते हैं। पर हमारे परिवार का चलन ऐसा नहीं था। हमारे मां-बाप बड़ी सादा जिंदगी बिताते थे, और उसमें आराम-तलबी के लिए कोई गुंजाइश न थी। पिता जी विशेष रूप से इस बात पर बल देते थे कि उनके बच्चे सादा-तबीयत, मेहनती और विनम्र स्वभाव के बनें। आर्थिक दृष्टि से वह जरूर एक सम्पन्न व्यक्ति माने जाते थे, पर घर का रहन-सहन अभी भी किसी निम्न मध्यवर्ग के परिवार जैसा ही था। बढ़िया कपड़े, शृंगार-प्रसाधन आदि जैसी कोई चीज हमारे घर में ढूढ़े भी नहीं मिलती थी। घर में चीनी के पिर्च-प्याले पहली बार उस वक्त आये जब बलराज कालिज में पढ़ रहे थे। खाने वाला मेज भी तभी आया। इन चीजों को 'नई रोशनी की अलामतें' माना जाता था और पिता जी नई रोशनी को बड़े शक की नजर से देखते थे। और इनका सबब तड़क-भड़क वाली उस यूरोपीय जीवन-पद्धति से जोड़ते थे, जिस पर उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं था। मां की दृष्टि बहुत कुछ भाग्यवादी बन चुकी थी और पिता जी की दृष्टि पर उन दिनों के अध्यवसायी मध्यवर्ग के विचारों का गहरा प्रभाव था, और वह मानते थे कि कड़े परिश्रम से ही व्यक्ति उन्नति कर सकता है। वह व्यक्ति के दृढ़ाग्रह, जीवन में आस्था और आशावादिता में विश्वास रखते थे। इस तरह माता-पिता, दोनों में से एक भी ऐसा नहीं था, जो बलराज को बहुत ढील देता अथवा उससे जरूरत से ज्यादा लाड़-प्यार करता। घर में तो खुशबूदार तेल तक नहीं हुआ करता था। जब, 1929 के आस-पास, शहर में बिजली आयी तो पिता जी को घर में बिजली लगवाने का तनिक भी उत्साह नहीं था। शहर के लगभग, सभी घरों में बिजली लग जाने के बाद ही हमारे घर में बिजली के तार लगे। और जब बिजली आयी भी तो मद्धिम बल्ब लगाये गये, क्योंकि पिता जी समझते थे कि बिजली की रोशनी में आंखें कमजोर होती हैं। बलराज को सिर पर लंबे बाल तो

क्या, पपोटे जितने ऊंचे बाल भी रखने की इजाजत नहीं थी। पैरों में गामा-शाही जूते हुआ करते। यह गामाशाही जूते क्या चीज हैं, इसका अंदाज वही आदमी लगा सकता है जिसने इन्हें कभी पहना हो। उनका चमड़ा मुलायम बनापाने के लिए, पहले हफ्ता-दस दिन तक तो जूतों में सरसों का तेल डालना पड़ता था। भेरा निवासियों के बारे में यो भी यह कहावत मशहूर थी कि अगर उनकी कमीज धुली हुई और साफ है, तो उनका पाजामा जरूर मैला होगा, क्योंकि अगर दोनों उजले हों तो इसे अपशगुन समझा जाता था।

बलराज दृढ़ाग्रही जरूर थे लेकिन हठी और उद्दण्ड नहीं थे। मुझे याद नहीं कि उन्होंने कभी भी अपने लिये कुछ हासिल करने का हठ किया हो। न ही उन्हें बढिया कपड़े पहनने और फ़ैशन करने का शौक था। उन्हें एक आदर्श "आर्यसमाजी" बालक कहा जाता। आज्ञाकारी, कर्तव्यपरायण, हिन्दी-सस्कृत भाषाओं में कुशल—उन्हें पूरी संध्या और हवन-मंत्र कण्ठस्थ थे। नियमित रूप से वह संध्योपासना करते, साप्ताहिक सत्संग में जाते। पर साथ ही साथ वह दब्बू और संकोची स्वभाव के भी नही थे, दृढ़ संकल्प वाले बालक थे। उनका चेहरा खिला-खिला और हर वक्त दमकता रहता था। स्वभाव के भी वह बड़े सरल और निश्छल थे।

वे गुण जो बाद में एक व्यक्ति के नाते भी और एक कलाकार के नाते भी, उनके एक विशिष्ट व्यक्तित्व के निर्माण मे सहायक होने वाले थे, वे बचपन में ही उनके आचार-व्यवहार में झलकने लगे थे। उन्हें नाटक खेलने का शौक था। कभी-कभी वह सस्कृत के श्लोक गढ़ लेते थे, उन श्लोको के अनुरूप जिन्हें उन्होंने अपनी पाठ्य-पुस्तको में पढ़ रखा होता था। इसके अतिरिक्त वह एक संवेदनशील बालक थे और उनके सौंदर्य-बोध में एक प्रकार की बारीकी पायी जाती थी, जो, उन दिनों को याद करते हुए, आज भी मुझे प्रभावित करती है। अक्सर चीजों के चयन में यह गुण लक्षित होता था। वह ऐसे पदों की सराहना करते जिनमे एक अनूठी लय और गति पायी जाती थी। शायद यही कारण था कि उन्हें हवन आदि मे भाग लेना अच्छा लगता था।

उन्हीं दिनों, जब बलराज अभी स्कूल मे ही पढ़ते थे, हमारे परिवार में एक और मौत हुई। हमारी दो बहनों मे से छोटी बहन—सावित्री—प्लूरिसी के कारण चल बसी। उस समय उसकी अवस्था उन्नीस वर्ष की रही होगी, वह दुबली किन्तु अत्यंत सुंदर, और विनम्र स्वभाव की युवती थी। उसे शायद अपनी मृत्यु का पहले से ही भास हो गया था। क्योंकि मरने से कुछ वक्त पहले उसने मां और पिता जी से वेदमंत्रों के उच्चारण का अनुरोध किया था। इस मंत्रोच्चारण के बीच ही उसने प्राण त्याग दिये थे। ज्यों ही पता चला कि

वह अब नहीं रही तो मंत्रोच्चारण, विलाप और दुःखपूर्ण क्रन्दन में बदल गया था।

पर उसकी मृत्यु के दो-एक घण्टे के अंदर ही, घर में एक और ऐसी घटना घटी जिससे, एक तरह से, उस शोकग्रस्त परिवार को हल्की-सी राहत मिली। निश्चय ही इस घटना ने बलराज के तरुण मन पर गहरी छाप छोड़ी होगी। हमारी बड़ी बहन ने जो विवाहिता थीं और उन दिनों हमारे साथ रह रही थी, बहन की मृत्यु के कुछ मिनट बाद ही, अपने दूसरे बच्चे—एक लड़की को —जन्म दिया। हमारी मां एक ओर अपनी मृतप्राय बेटी की देख-रेख कर रही थी तो दूसरी ओर प्रसूति मे अपनी बड़ी बेटी की सेवा-सुश्रूषा कर रही थीं। उस समय उनके मन पर क्या बीत रही होगी, इसका अदाज लगाना कठिन है। बेटी का जन्म होने पर घर मे सभी कहने लगे कि सावित्री लौट आयी है, उसी ने घर में फिर से जन्म लिया है। शायद हम बच्चो को दिलासा देने के लिए या अपने दुःखी मन को ढांढस बधाने के लिए ऐसा कहा जा रहा था।

1928 में बलराज मैट्रिक की परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए। विज्ञान तथा संस्कृत उनके वैकल्पिक विषय थे। बड़े ऊंचे (630) नम्बर लेकर वह फर्स्ट डिवीजन मे पास हुए। वह जिले में दूसरे नम्बर पर आये और उन्हे यूनीवर्सिटी की ओर से वज़ीफ़ा मिला।

मैट्रिक पास करने के बाद बलराज ने रावलपिण्डी के डी. ए. वी. कालिज में ही इन्टरमिडियेट की पढाई के लिए नाम दर्ज करवा लिया। अबकी बार उनके वैकल्पिक विषय संस्कृत और दर्शनशास्त्र थे। उन दिनो एक छात्र के लिए कालिज मे दाखिला लेने का मतलब था, पाश्चात्य विचारो और मूल्यों से परिचय प्राप्त करना। कालिज की पढ़ाई मे अंग्रेजी भाषा को प्रमुखता प्राप्त थी, और चूंकि उस भाषा का बडा बोलबाला था, कालिज की पढ़ाई का मतलब यह भी था कि विद्यार्थी का न केवल नजरिया बदलेगा, उसका रहन-सहन और तौर-तरीके भी बदल जायेंगे। इसका मतलब था, पाजामें की जगह पतलून पहनना, अंग्रेजी पोशाक अपनाना, अंग्रेजी भाषा में वार्तालाप करना, अंग्रेजी फिल्में देखना, मूछें मुंडवा डालना, सिर पर लम्बे बाल रखना, अंग्रेजी उपन्यास पढ़ना, आदि, आदि। साथ ही साथ इसका मतलब, यह भी था कि परंपरागत भारतीय चिन्तन तथा संस्कृति को हेय समझना और उससे नाता तोड़ लेना और उन्हें पिछड़ा हुआ समझ कर उनके प्रति उपेक्षा भाव पाया जाना।

इस समय बलराज के जीवन मे, जसवंत राय नाम के एक व्यक्ति ने प्रवेश किया, और इस संपर्क ने बलराज के जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। जसवंत राय इन्टरमीडियेट कालिज में बलराज के अध्यापक थे। वह बड़े सुंदर व्यक्तित्व

वाले संवेदनशील व्यक्ति थे, साहित्य से उन्हें गहरा प्रेम था, और जीवन और समाज के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण रखते थे। उनका व्यक्तित्व बड़ा निखरा-निखरा और आकर्षक था। पर उनका शायद सबसे बड़ा गुण यही था कि वह साहित्य के उत्कृष्ट व्याख्याता थे, और इस कारण छात्रों के बीच बड़े लोकप्रिय थे। हर रोज, कालिज से घर की ओर लौटते हुए उनके हाथ में ढेर सारे फूल होते जो छात्रों ने भेंटस्वरूप उनकी मेज़ पर रख दिये होते थे। उनके प्रति इतना गहरा आदरभाव पाया जाता था कि कक्षा में प्रवेश करने से पहले ही सभी विद्यार्थी चुपचाप बैठे उनकी राह देख रहे होते थे। शैली की कविता "Ode to a Skylark" अथवा कोई भी अन्य कविता पढ़ाते हुए वह छात्रों के मन को बांध लेते, उसके निहित गुण उजागर करते, और उनमे निहित भावों की प्रामाणिकता स्थापित कर पाने के लिए अपने जीवन के अनुभवों से उदाहरण देते। कविता का रस और भी बढ़ जाता था। यह कहना सही होगा कि बलराज और जसवंत राय एक साथ ही, एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए थे। शाम के वक्त जसवंत राय अपने कुछेक छात्रों तथा मित्रों के साथ, लंबी सैर पर निकलते थे। शीघ्र ही बलराज भी इस मंडली में शामिल हो गये। कभी-कभी वे केन्टोन्मेन्ट की ओर घूमने निकल जाते, तब उनकी सैर जे. रे. एण्ड संस नाम की एक किताबों की दुकान पर पहुंच कर खत्म होती थी जिसके मालिक जसवंत राय के मित्र थे। यहां पर जसवंत राय नये प्रकाशनों पर नज़र दौड़ाते और अवसर, अंग्रेजी की दो-एक किताबें खरीद लाते। उन्हें पढ़ने का बहुत शौक था। तत्पश्चात् मण्डली दो सिनेमाघरों की परिक्रमा करती हुई—जहां पाश्चात्य फिल्में दिखायी जाती थी—और हाल के बाहर लगे फिल्मों के चित्रों की नज़र-सानी करती हुई शहर की ओर लौट आती थी। युवा भारतीय छात्र की नज़र में केन्टोन्मेन्ट पाश्चात्य संस्कृति के केंद्र के समान था। बड़ी सज-धज और तड़क-भड़क वाली दुकानें, साफ-सुथरी सड़कें, जिन पर सुनहरे बालों और गोरी चमड़ी वाली अंग्रेज अथवा ऐंग्लो-इण्डियन लड़कियां, और वर्दी पहने गोरे फौजी घूमते नजर आते थे। इनके लिए केन्टोन्मेन्ट में घूमना पाश्चात्य रहन-सहन को आंख भर कर देखना था। या फिर, जसवंत राय अपने चेले-चांटो को लिये—जिनको मजाक में जसवंत राय की 'वानर सेना' कहा जाता था, शहर के बाहर, देहात की ओर निकल जाते थे, खेतो में से होते हुए, दूर, सैदपुर को जाने वाली सड़क तक इस लंबी सैर का अपना मज़ा था, खूब हँसी-खेल रहता, किस्से-कहानियां, लतीफे, बहस-मुबाहिसा, सभी चलते थे।

घर पर, जसवंत राय एक बहुत बड़े परिवार के सदस्य थे। उनके चार भाई, भाईयों के बीवी-बच्चे, सारा परिवार पिता की छत्रछाया मे रहता था,

जो शहर के एक नामी डाक्टर थे। इस घर का वातावरण उस वातावरण से बहुत भिन्न था जिसमें बलराज का बचपन बीता था। इस घर में न तो धार्मिक कट्टरता ही पायी जाती थी, और न ही सामाजिक प्रश्नों के प्रति गहरा लगाव। अच्छा खाता-पीता परिवार था, जिसमें पढ़े-लिखे, बन-ठन कर रहने वाले लोग रहते थे, जो अच्छे रहन-महन में विश्वास करते थे। बड़ा भरा-पूरा परिवार था, दिन भर वहां हँसी के ठहाके गूंजते थे। साथ ही बड़ा आतिथ्यप्रेमी परिवार था, हर रोज तरह-तरह के व्यंजन, तरह-तरह की मांस-मछली वहां पर पकती। इसके अतिरिक्त, इन भाइयों के बहुत से मुसलमान दोस्त थे जिनके साथ उनकी बेतकल्लुफी थी, वे घर के अंदर भी खुले बंदों चले आते और सभी मिलकर खान-पान करते। घर की स्त्रियां भी इन मित्रों से पर्दा नहीं करती थीं।

बलराज के लिए यह सब बहुत नया था। इसके प्रभावाधीन बलराज के विचार बदलने लगे और उनके दृष्टि-क्षेत्र में फैलाव आने लगा। बलराज अब आर्यसमाज मंदिर में कम जाते थे। 'हवन' और प्रार्थना लगभग समाप्त हो चुके थे। बलराज अंग्रेजी फिल्में देखने लगे, जिन पर पहले बंदिश रहती थी। वह मांस-मछली भी खाने लगे, जो अभी तक हमारे घर में नहीं पकायी जाती थी। वह पाजामा-कुर्ता के स्थान पर पतलून-कोट भी पहनने लगे थे। घर में खाने का मेज आ गया (इससे पहले घर के सभी लोग रसोईघर मे बैठकर भोजन किया करते थे), चाय पीने का एक जापानी सेट आ गया। यह सब बलराज के आग्रह से हुआ। घर में अब कभी-कभी चाय भी बनने लगी। बलराज के सिर पर, जहां पहले सिर घुटा रहता था और चुटिया लटकती रहती थी, अब लंबे-लंबे बाल आ गये। शीघ्र ही बलराज घर में अंग्रेजी म गिट-पिट भी करने लगे, जिससे मां को बड़ी खीझ होती थी, क्योंकि मां के पल्ले कुछ नहीं पड़ता था। इसमें कोई नई अथवा अनूठी बात नहीं थी। कालिज मे पढ़ने वाला हर छात्र उन दिनों ऐसे ही तौर-तरीके अपना रहा था। पर बलराज की नींव मजबूत थी। इस प्रबल प्रभाव से उनकी दृष्टि अधिक उदार और व्यापक ही हुई, उसमें आमूल परिवर्तन नहीं हुआ। साथ ही इससे साहित्य में उनकी रुचि भी खूब पनपने लगी। बलराज उस धार्मिक कट्टरता और अनुशासन के माहौल में से बाहर निकलने लगे जिसमें उनका लालन-पालन हुआ था।

1929 में, लाहौर मे रावी नदी के तट पर कांग्रेस का राष्ट्रीय अधिवेशन हुआ। बलराज के लिए यह चिर-महत्व की घटना साबित हुई। बलराज इस विराट् समागम को देखने अपने कुछेक मित्रों के साथ लाहौर मे गये, और जब लौटे तो उनका दिल बल्लियों उछल रहा था। कितने दिन तक वह घर में इसकी चर्चा करते रहे, वहां क्या देखा, कैसे राष्ट्रीय ध्वज के नीचे भारी भीड़ ने

पहली बार पूर्ण स्वतंत्रता की शपथ ली। जवाहरलाल नेहरू, जो युवा भारत की आंखों के तारे थे, राष्ट्रीय ध्वज के नीचे और लोगों के साथ नाचते रहे थे। बलराज पहली बार उन प्रबल लहरों के सम्पर्क में आये थे जो हमारी जनता के भाग्य का निर्णय कर रही थीं, और बलराज के दिल में देशप्रेम की भावना ठाठें मारने लगी थी।

इसके दो साल बाद सरदार भगत सिंह को फांसी दी गयी और रात के अंधेरे में उनकी लाश को फूंक दिया गया। देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक क्षोभ और गुस्से की लहर दौड़ गयी। इस घटना ने बलराज के दिल को जैसे मथ डाला, और बलराज ने शहीद की मौत पर अंग्रेजी में एक कविता लिखी। यह कविता मुझे आज भी याद है और यहां मैं उसका सीधा-सादा अनुवाद प्रस्तुत कर रहा हूं।

वे तुम्हें याद करके रोते हैं, विलाप करते हैं
क्योंकि तुम उन्हें छोड़ कर चले गये;
परन्तु मैं,
रोता हुआ भी हृदय से संतुष्ट हूं
'भारत मां के जाये, जंजीरों-हथकड़ियों में पले मेरे भाई,
तुम खुशकिस्मत हो। जीते जी तो तुम अपना खून बहाते रहे
और जंजीरें तुम्हें जकड़े रहीं
पर अब
तुम्हारी आत्मा स्वतंत्र व्योम में उड़ानें भरेगी
जहां गुलामी की जंजीरें कदापि तुम तक नहीं पहुंच पायेंगी।
परन्तु एक बात का अभी मुझे दुःख है
काश कि मुझे स्वच्छन्द धरती का छोटा-सा टुकड़ा मिल पाता
जहां मैं तुम्हारे बदनसीब अवशेषों को दफ़ना पाता
जहां गुलामी अपने कदम नहीं रख पाती
पर यह कैसे संभव हो सकता था,
तुम तो गुलाम थे
और गुलामों को चैन की नींद कहां ?
मेरे बिछुड़े भाई, एक बात याद रखना
यदि भगवान फिर से तुम्हारी आत्मा को धरती पर भेजें
तो उनसे अनुनय करना कि वह तुम्हें किसी मरुस्थल में भेज दें
ऐसी धरती पर लौटने से क्या लाभ

जहां जवानी ठण्डी पड़ चुकी है
जहां आत्मसम्मान टकों के भाव बिक रहा है,
जहां वीरों का खून कुछ भी सींच नहीं पाता
जहां कबरें भी खोद दी जाती हैं और उन पर हल चलाये जाते हैं
जहां आंसू भी पराये छंदों में बहाये जाते हैं
जहां पिंजरों में बंद पक्षी भी चहकते फिरते हैं
और पिंजरों के सींखचों को अपना पाने के लिए
एक दूसरे का खून बहाते हैं।

कविता मे बड़ा वलवला है। ब्रिटिश शासन के जुए से मुक्ति पाने के लिए जो देशव्यापी संघर्ष चल रहा था, उसके प्रति बलराज सचेत हो रहे थे। उनकी भावनाएं उससे जुड़ रही थी। जसवंत राय के प्रभावाधीन जहां एक ओर बलराज उस परपरावादी, संकीर्ण, धर्मोन्मुख माहौल से निकल रहे थे, वहां, दूसरी ओर वह राष्ट्रीय आंदोलन के साथ मानसिक और भावनात्मक स्तर पर गहरे में जुड़ भी रहे थे। निश्चय ही इस कालखण्ड में उनके दृष्टि-क्षेत्र में खूब फैलाव आ रहा था।

बलराज की नयी दिलचस्पियों में से अनेक ऐसी थी जिन्हें पिता जी पसद नही करते थे। पर पिता जी का व्यवहार हर बात में बड़ा स्नेहपूर्ण और उदार हुआ करता था, और वह बलराज पर अपनी ओर से कोई दबाव नही डालते थे। उन्हें बलराज की नेकनीयती और साफ दिली पर गहरा विश्वास था। पिता जी ने हमे सिखाया तो यह था कि हम प्रभात वेला में उठें और बाहर घूमने जायें। इस तरह अपनी दिनचर्या आरंभ करें। बलराज अब सुबह देर से उठने लगे। वह बिस्तर पर सिर के नीचे तकिया दोहरा करके लेट जाते और आराम से लेटे-लेटे कोई नावल पढते; यह बात पिता जी को बड़ी नापसंद थी। उन्हें यों पड़ा देख कर पिता जी अक्सर मजाक के लहजे मे कहा करते, "London Making ?" (क्या लंदन मे विचर रहे हो ?) और कह कर चले जाते। पिता जी जसवंत राय का मान करते थे। वह समझते थे कि बलराज पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ रहा है। जसवंत राय के स्वभाव में ऐसी कुछ विशिष्टता थी कि उन्हें बड़ी उम्र के लोग भी चाहते थे और छोटी उम्र के लोग भी। जहां कहीं घर-परिवार में झगड़ा होता तो बड़ी उम्र की औरतें उनसे मशविरा लेतीं, इनसे सीख लेतीं, इसी भांति युवा दम्पती भी, और युवा छात्र भी। जसवंत राय किसी न किसी तरह सभी को शांत और आश्वस्त कर देते, और कम से कम उस वक्त के लिए, उनकी पेचीदगियों की गांठें खोल देते,

उनके सद्‌भावनापूर्ण शब्द ज़ख्मी दिलों पर मरहम का-सा काम करते। वह अक्सर कहा करते थे कि मैं तो जीवन में 'मध्यममार्गी' रहा हूं, अर्थात् रास्ते के बीचोंबीच चलने वाला। यही मेरे जीवन का सिद्धांत है। 'बस, यहां तक, इससे आगे नहीं!' यह मेरा आदर्श सूत्र है। 'मध्यम मार्ग ही सुनहरी रास्ता है", वह अक्सर कहा करते। इसी बात को लेकर जसवंत राय के मित्र उन्हें यह कह कर अक्सर छेड़ा भी करते थे, कि तुम सड़क पर भी सचमुच बीचो-बीच ही चलते हो, पूरी मूछ न मूड़ कर, तितली मूंछ रखते हो, खादी तो पहनते हो, पर कारखाने की बुनी हुई खादी, हथकरघे की नहीं, कांग्रेस आंदोलन की प्रशंसा तो खूब करते हो, पर उसके नज़दीक नहीं जाते। आदि-आदि। उस ज़माने में उदारवादी बुद्धिजीवियों के वह विशिष्ट प्रतिनिधि थे, कठमुल्लापन के विरोधी, पर साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन से भी तनिक हट कर रहने वाले। राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रशंसक, पर फिर भी संघर्ष से किनारा किये रहने वाले।

एक दिन एक पुलिस अधिकारी, अपने साथ सिपाहियों की एक टुकड़ी को लिए हमारे घर पर पहुंच गया। वह अपने साथ हमारे घर की तलाशी लेने का का हुक्मनामा लेकर आया था। पिता जी तो भौंचक्के रह गये और बेहद घबरा गये। पूरे तीन दिन तक हमारे घर की तलाशी ली जाती रही, पर बलराज के विरुद्ध कोई आपत्ति जनक सूत्र नहीं मिला। अंत में तलाशी खत्म हुई और बलराज के खिलाफ जारी किये गये गिरफ़्तारी के वारंट वापिस ले लिये गये। यह सारा हंगामा बलराज की एक बचकाना हरकत के कारण हुआ। उन्होंने मेरठ में हमारी फुफेरी बहिन उर्मिला शास्त्री को—जो स्थानीय कांग्रेस की एक जानी-मानी नेता थी—एक पत्र लिखा कि शीघ्र ही घर में दो बम पहुंच जायेंगे, क्योंकि हमने उनके लिए आर्डर भेज रखा है। चिट्ठी रास्ते में पकड़ ली गयी थी, और पुलिस उन दो बमों को खोज निकालने के लिए हमारे घर पहुंच गयी थी। पंजाबी में अंग्रेज़ी के शब्द Bomb' को 'बम' के रूप में लिखा जाता है, और इस शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक तो विस्फोटक बम, पर दूसरा, बांस के उस लंबे छड़ को भी पंजाबी में बम कहते हैं, जो तांगे में लगाया जाता है—जिन बांस की दो छड़ों के बीच घोड़े को जोता जाता है, उन्हें भी 'बम' कहते हैं। बलराज का मतलब बांस के बमों से था। घर पर उन दिनों तांगा हुआ करता था, और पिता जी ने उसके लिए दो नये 'बम' खरीदने का फैसला किया था, यह मज़ाक घर वालों को बड़ा महंगा पड़ा, क्योंकि कुछ दिन तक इस बात का सचमुच खतरा बना हुआ था कि बलराज को गिरफ़्तार करके जेलखाने में डाल देंगे।

उस ज़माने के अन्य नौजवानों की भांति बलराज का मानसिक विकास भी

भी दो प्रबल प्रभावों के अंतर्गत हो रहा था। एक आजादी की जद्दोजहद और और दूसरा पाश्चात्य चिन्तन और संस्कृति। शायद यही कारण था कि जब जवाहरलाल नेहरू, एक चमकते सितारे की भांति राष्ट्रीय क्षितिज पर प्रगट हुए तो देश के पढ़े-लिखे नौजवान, अपने आप ही उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। बलराज को राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाएं भी उतनी ही उत्प्रेरित और उद्वेलित करती थीं जितना अंग्रेजी साहित्य। इसीलिए, जब वह अपनी कविता में 'आंसुओं को विदेशी छंदों में व्यक्त' करने की बात करते हैं तो बात समझ में आ जाती है। जसवंत राय के प्रभावाधीन वह उदारवादी दृष्टिकोण अपना रहे थे, भले ही बलराज का उदारवाद कुछ ज्यादा जानदार था।

लगभग इसी समय बलराज ने अंग्रेजी में एक और कविता लिखी, जिसके कुछेक पद मुझे याद हैं, और जिसमें शब्दों के चयन में तथा संवेदन के धरातल पर भी अधिक प्रौढ़ता दिखायी देती है। कविता कश्मीर की गुलमर्ग घाटी की पृष्ठभूमि में लिखी गयी है, जहां पहाड़ों की शृंखला दूर-दूर तक चली गयी है, और रात के अंधेरे में किसानों के घरों की बत्तियां जगह-जगह टिमटिमाती दिखायी देती हैं।

> घाटी में गहरा, अलौकिक मौन छाया है,
> केवल दूर, जलप्रपातों की अनुगूंज, जुदाई के स्वरों जैसी सुनायी दे रही है।
> अभागे प्रेमी, बिछड़ते हैं तो कभी लौट कर नहीं आते!
> कभी लौटते नहीं, इन शाहजादियों सरीखी पहाड़ियों के पास
> अपनी गौरव-लीला दिखाने
> इनके भाग्य में
> रात के सन्नाटे में,
> अपनी कठोर, पुरातन शय्या पर से उठ कर केवल चल देना ही लिखा है।
> दूर तक फैली घाटी में, जगह जगह
> एकाकी दिये टिमटिमा रहे हैं
> प्रत्येक दिया, एक घर को अपनी ओट में लिये हुए हैं
> जिसमें मनुष्य के हर्ष और विषाद सांस ले रहे हैं
> ऊपर, व्योम चांद-सितारों से खिल उठा है।
> कैसी सुहावनी रात है!
> इस घड़ी, मैं अपनी कुटिया में से निकल आता हूं

और ओस में भीगे, एक झिलमिलाते शिलाखंड पर आ बैठता हूं,
सितारों से डरा हुआ,
एक टिमटिमाते दिये पर आंखें गाड़ देता हूं।

एक उत्कृष्ट कलाकार के तीनों गुण—छंद-बोध, सजीव कल्पना, तथा गहरा सवेदन बलराज में निश्चय ही पाये जाते थे।

पर बलराज किताबी किस्म के युवक नहीं थे, वह अलग-थलग, अपने विचारों में डूबे, अथवा अपने में ही खोये नहीं रहते थे। वह घंटों किसी कोने में बैठ कर किताबें नहीं बांचते थे। इसके विपरीत वह स्वभाव के बड़े मिलनसार थे, घूमने-फिरने, नई-नई खोजें करने, और तरह-तरह के जोखिम उठाने के शौकीन थे। वह अंतर्मुखी स्वभाव के नहीं थे। वह बढ़िया खिलाड़ी तो नही थे लेकिन खेल-कूद का शौक उन्हें सदा रहा था, और घूमना उन्हें बड़ा पसंद था। स्कूल और कालिज के दिनों में, वह कुछेक दोस्तों को इकट्ठा कर लेते और या तो साइकिलों पर, या फिर पैदल, लम्बी सैर को निकल पड़ते। यह उनका चहेता कार्यक्रम हुआ करता था। किसी दिन वह अचानक बड़े उत्साह से कहते, "चलो, यार, साइकिलों पर कोहमरी चलते हैं।"

सुनने वालों को वह बड़ा अटपटा-सा सुझाव जान पड़ता क्योंकि कोहमरी नाम का पहाड़ी नगर रावलपिण्डी से लगभग चालीस मील की दूरी पर था। पर बलराज को फ़ासिले का ध्यान कभी आता ही नहीं था। वह तो साइकिल उठाते और बिना कोई योजना बनाये या तैयारी किये, निकल पड़ते। अक्सर तो उन्हें साथ में खाने का सामान ले जाने की सुध भी नहीं होती थी। न साथ में भोजन, न जेब में पैसा। मुझे उनके साथ किये गये अनेक ऐसे दौरे याद हैं—कोहमरी से कोहाला तक, श्रीनगर से गुलमर्ग तक, रावलपिण्डी से कोहमरी तक, आदि-आदि। जब कभी वह किसी पहाड़ के दामन में खड़े होते तो उनकी पहली ख्वाहिश यही होती कि पहाड़ की चोटी तक चढ़ जायें। जब कभी किसी झील के किनारे खड़े होते तो उनका मन यही चाहता कि उसमें कूद जायें और उसे तैर कर पार कर जायें। उनका ऐसा ही मिजाज था। लड़कपन के उन दिनों में भी एक तरह की बेचैनी उनके स्वभाव में पायी जाती थी। मैं नहीं समझता कि उन्होंने अपने जीवन मे कोई दो दिन भी कभी एक जैसे बिताये होंगे। उन्हे मेज पर बैठ कर काम करने से चिढ़ थी। बधी-बधायी दिनचर्या से चिढ़ थी। शायद इसी बेचैनी के कारण ही, जब कभी उनकी ज़िंदगी किसी समतल ढर्रे पर चलने लगती तो वह उससे ऊबने लगते थे। यही कारण रहा होगा कि उन्होंने वर्षों तक न कभी टिक कर कोई नौकरी की, न ही कोई

धंधा अपनाया । इसके अलावा वह निर्भीक और साहसी युवक थे । तकियानूसी या एक लीक पर चलने वाले नहीं थे । जो कुछ भी वह करते, उसमें एक विशेष प्रकार की ताज़गी होती थी, एक प्रकार की मौलिकता और उसमें मिज़ाज की आज़ादी झलकती थी । नये-नये दोस्त बनाने मे उन्हें कमाल हासिल था । हर समय उनके, दो-एक जिगरी दोस्त होते और अनेक संगी-साथी होते थे । और अब सोचने पर यह विचित्र-सी बात ध्यान मे आती है कि अक्सर उनके जिगरी दोस्त, गहरे सांवले रंग के हुआ करते थे, स्कूल के दिनों में गिरिजा कुमार, कालिज के दिनों में प्रेम किरपाल, इप्टा की सरगर्मियों के दिनों मे रामा राव, आदि सभी गहरे सांवले रंग के थे । ऐसा क्या अचानक ही हुआ, या इसलिए कि बलराज स्वयं गोरे रंग के थे और परस्पर-विपरीत रंगों के आकर्षण के कारण ऐसा हुआ, कहना कठिन है । इसके अतिरिक्त वह सदैव, किसी न किसी को अपना हीरो बनाये रहते, जिसके प्रति उनके दिल मे गहरा आदर-भाव होता और जिसका वह अनुकरण करते—लड़कपन के दिनों में जसवंत राय, बाद मे पी. सी. जोशी ऐसे ही व्यक्ति थे ।

अप्रैल, 1930 में बलराज ने इण्टरमीडियेट की परीक्षा फर्स्ट डिवीजन में पास की । इसके शीघ्र ही बाद, वह आगे की पढ़ाई करने लाहौर के लिए रवाना हो गये ।

2 लाहौर में

बलराज के लाहौर मे दाखिला लेने के समय हमारे घर में एक अच्छा-खासा नाटक हुआ था। स्थानीय डी. ए. वी. कालिज से बलराज ने इण्टरमीडियेट की परीक्षा पास की थी। उच्चतर शिक्षा ग्रहण कर पाने के लिए लाहौर जाना जरूरी था, जो उन दिनों उच्च शिक्षा का केन्द्र था, और वहीं पर पंजाब विश्वविद्यालय भी स्थित था।

पिता जी चाहते थे कि बलराज वाणिज्य शास्त्र की पढ़ाई करें, और इसके लिए लाहौर के हेली कालिज आफ़ कामर्स में दाखिला लें। स्वयं व्यापारी होने के कारण वह अपने दोनो बेटों के लिए भविष्य मे व्यापार की ही कल्पना किया करते थे। कभी-कभी वह बड़े उत्साह के साथ उन संभावनाओं की चर्चा करते जो व्यापार के बारे में सोचते हुए उनकी आंखों के सामने खुलने लगती थी। "इम्पोर्ट के काम के लिए रावलपिण्डी मुनासिब जगह नही है", वह कहते, "इसके लिए, मैं चाहता हूं, मेरा एक बेटा लदन में अपना दफ्तर खोले, और दूसरा बेटा कराची मे। एक बेटा माल भिजवाये और दूसरा देश मे उसका वितरण करे। वास्तव में इम्पोर्ट बिजनेस करने का तरीका ही यही है। बुजुर्ग लोग कहा करते हैं · मुट्ठी भर मिट्टी भी उठाना हो तो किसी बड़े ढेर में से उठानी चाहिए, छोटे ढेर मे से नही।"

बलराज को वाणिज्य में कोई दिलचस्पी नही थी, और न ही हेली कालिज आफ़ कामर्स में—जिसे एक कालिज के नाते कोई जानता-पूछता तक नहीं था न ही लाहौर के अन्य कालिजों, गवर्नमेंट कालिज और फार्मन क्रिश्चियन कालिज आदि के मुकाबले में उसकी कोई साख थी। उन दिनों किसी छात्र के लिए और विशेष रूप से किसी छोटे शहर से जाने वाले छात्र के लिए इस बात का इतना महत्व नही था कि वह क्या पढ़ने जा रहा है, महत्व इस बात का था कि वह किस कालिज मे पढ़ने जा रहा है। उस कालिज का नाम क्या है

जिसमें वह बढ़ेगा। गवर्नमेंट कालिज और फार्मन क्रिश्चियन कालिज की उन दिनो तूती बोलती थी, उनका बड़ा रोआब था जो अन्य किसी कालिज का नही था। और बलराज के हीरो, जसवंत राय, स्वय फार्मन क्रिश्चियन कालिज मे से पढ कर निकले थे और बलराज ने उनके मुह से दोनों कालिजों मे लड़कों की ज़िदगी के बारे में बीसियों कहानिया सुन रखी थी। इसके अलावा, बलराज का ज़ेहनी रुझान साहित्य की ओर अधिक थी और वाणिज्य मे उन्हें कोई दिलचस्पी नही थी। परंतु पिता जी की इच्छा के अनुसार वह लाहौर गये और हेली कालिज आफ कामर्स में दाखले के लिए अर्जी दे दी।

रावलपिण्डी से चलते समय, पिता जी ने बलराज के हाथ मे कुछेक पत्र दिये थे। ये पत्र उन्होंने अपने मित्रों के नाम लिखे थे, कि जरूरत पड़ने पर वे बलराज का दिशा-निर्देश कर सकें तथा उसकी छोटी-मोटी सहायता कर सकें। ऐसा ही एक पत्र उन्होने डी.ए.वी. कालिज, लाहौर के प्रिंसिपल, लाला साईंदास के नाम भी लिखा था। लाला साईंदास एक जाने-माने शिक्षाविद् तथा आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता थे। कामर्स कालिज में अर्जी देने के बाद, बलराज सीधा लाला साईंदास से मिलने गये। और उन्हें अपने दिल की बात कह सुनायी कि उन्हें वाणिज्य में तनिक भी रुचि नहीं है, और लाला साईंदास से प्रार्थना की कि वह इस मामले में पिता जी को समझायें और उनसे इस बात की रज़ामंदी ले लें कि बलराज हेली कालिज में दाखिला न लेकर किसी दूसरे कालिज में दाखिल हो जाये जहां वह सामान्य बी. ए. की शिक्षा ग्रहण कर सके। बलराज को उम्मीद नहीं थी, कि लाला साईंदास उसका आग्रह स्वीकार करेंगे पर लाला साईंदास का रवैया उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण निकला। उन्होंने बलराज को आश्वासन दिया कि वह इस आशय का पत्र उसके पिताजी को लिख देंगे। कुछ ही दिन बाद पिता जी की ओर से जवाब आया कि अगर बलराज वाणिज्य नही पढना चाहता, तो वह कृषि विज्ञान की पढ़ाई करे, और इसके लिए अमृतसर के कृषि कालिज में दाखिला ले ले। पिता जी की नज़र मे व्यवसाय के नाते, वाणिज्य को पहला स्थान प्राप्त था, और दूसरा स्थान खेती बारी को। उनकी नज़र में खेतीबारी करने वाला आदमी आज़ाद रहता था, और उसके सामने आगे बढ़ने की संभावनायें बनी रहती हैं। पिता जी को नौकरी से बेहद चिढ़ थी। स्वयं किसी ज़माने मे उन्होंने नौकरी की थी, और उसमे उन्हे बड़ी घुटन महसूस हुई थी। बलराज अमृतसर गये और कृषि कालिज में अपनी अर्जी दाखिल कर दी। पर उन्हें इस विषय मे भी कोई दिलचस्पी नहीं थी। गवर्नमेंट कालिज में दाखिला लेने के दिन निकलते जा रहे थे। जब दाखिला बंद होने की घड़ी आ गयी, तो बलराज ने फिर से लाला साईंदास

का दरवाज़ा खटखटाया, और उनसे बड़ी गंभीर और व्याकुल आवाज में बोले, "मेरे पिता जी मेरी जिंदगी बर्बाद करने पर तुले हुए हैं। मैं कृषि कालिज मे दाखिला नहीं लेना चाहता। पिता जी क्यों मुझे वहां भेजना चाहते हैं ?"

इस एक वाक्य से ही मामला तय हो गया। "तुम जिस कालिज में पढ़ना चाहते हो, वहीं जाकर दाखिला ले लो। इत्मीनान से जाओ। मैं तुम्हारे पिता जी से बात साफ़ कर लूंगा।"

इस तरह बलराज ने, अक्तूबर, 1930 में लाहौर के गवर्नमेंट कालिज में प्रवेश किया, जहां पर अगले चार साल तक बी. ए. (आनर्स) और एम. ए. (अंग्रेजी) की पढ़ायी करते रहे।

लाहौर का गवर्नमेंट कालिज, निश्चय ही अपनी तरह का अनूठा कालिज था। वह उन गिने-चुने कालिजों में से था जिसका संचालन सीधा ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में किया जाता था। उसके पास शानदार बिल्डिंग थी, खेल के खुले मैदान थे, तैराकी का तालाब था, और पढ़ाने वालों मे अनेक अंग्रेज प्रोफेसर थे। इस तरह उसका बड़ा ठाठ था। खेल-कूद में वह सबसे आगे था, पंजाब भर के सर्वोत्कृष्ट छात्र उसमें दाखिला लेने के लिए आते और भारत में ब्रिटिश सरकार के लिए प्रशासनिक तथा सैनिक महकमो के लिए वहीं पर से अफसरों की भरती की जाती थी। किसी भी महत्वाकांक्षी युवक के लिए, जो सरकारी नौकरी में आगे बढ़ना चाहता हो, गवर्नमेंट कालिज एक सीढ़ी के समान था। वास्तव में यह सही ही कहा जाता था कि गवर्नमेंट कालिज से प्राप्त की हुई डिग्री वह कुंजी है जिससे सभी दरवाज़े खुल जाते हैं। बहुत से प्राध्यापक, आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज में से पढ़ कर आये होते थे, और इस तरह कालिज के माहौल में भी बड़ी अंग्रेज़ियत पायी जाती थी। इंगलैंड में प्रचलित नये से नया फैशन कुछ ही दिनों में गवर्नमेंट कालिज में दिखायी देने लगता था, अक्तूबर महीने में कालिज खुलते थे, और बहुत से अंग्रेज प्राध्यापक गर्मी की छुट्टियों के बाद भारत लौटते थे। वे लौटते समय जो भी पोशाक पहने होते थे, वही पोशाक अगले साल के लिए गवर्नमेंट कालिज के लड़कों के लिए फैशन बन जाती थी। लडके भागे हुए दर्जियों के पास उस काट के सूट सिलवाने पहुंच जाते। गवर्नमेंट कालिज के छात्र बड़े चुस्त-दुरुस्त रहते, बढ़िया विलायती काट के कपड़े पहनते, अंग्रेजी गीत गाते, प्राध्यापको का अभिवादन करने के लिए ठीक अंग्रेजी ढंग से सिर पर से सोला टोपी उतारते, और जहां तक मुमकिन होता, रहन-सहन के अंग्रेजी तौर-तरीके अपनाते थे। एक भारतीय छात्र के लिए गवर्नमेंट कालिज मे पढ़ना एक छोटे से इंगलैंड में रहने के बराबर था।

भारत में उन दिनों राष्ट्रीय आंदोलन जोरों पर था। गांधी जी का दूसरा असहयोग आंदोलन आरंभ हो चुका था। लंदन में गोलमेज सम्मेलन की तैयारियां की जाने लगी थीं। और युवा देशभक्त, क्रांतिकारी सरगर्मियों के प्रति अधिकाधिक आकृष्ट हो रहे थे। गवर्नमेंट कालिज से थोड़ी ही दूरी पर डी.ए.वी. कालिज था, जिसके छात्र राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेते थे, जहां का माहौल सारा वक्त उद्वेलित रहता था। वास्तव में इसी कालिज की दीवार को फांद कर विश्व प्रसिद्ध क्रांतिकारी भगत सिंह ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध अपनी विद्रोही कार्रवाई की थी। इसके विपरीत गवर्नमेंट कालिज की चारदीवारी के भीतर, बाहर की दुनिया की आवाजों की प्रतिध्वनि तक सुनाई नहीं देती थी। गवर्नमेंट कालिज के बहुत से छात्र बड़े गर्व से इस आशय के किस्से सुनाया करते कि किस भांति एक छात्र जब सिर पर गांधी टोपी रखे कालिज के अंदर आया तो मिनटों में उसका नाम कालिज के रजिस्टर में से खारिज कर दिया गया। छात्र बड़े चाव से ब्रिटिश सम्राट जार्ज पंचम के नववर्ष संदेश की चर्चा करते, खेलकूद संबंधी घटनाओं की चर्चा करते, या फिर नई-नई अमरीकी फिल्मों की, जिनमें ग्रेटा गार्बो, और रोनल्ड कालमैन आदि फिल्मी सितारों ने भूमिका अदा की होती, पर भूल से भी कभी किसी के मुंह से स्वाधीनता संघर्ष की चर्चा सुनने को नहीं मिलती थी। यों कालिज में सारा वक्त गहमागहमी रहती। खेलकूद, पढ़ाई, प्रतियोगिताओं से संबंधित परीक्षाएं आदि-आदि और इनमें प्राप्त होने वाली उपलब्धियों से कालिज का माहौल जैसे गूंजता रहता था।

1930 से 1934 तक का समय बलराज के लिए, अनेक अर्थों में अत्यधिक महत्वपूर्ण साबित हुआ। बलराज ने कालिज में इस उद्देश्य से प्रवेश नहीं किया था कि बाद में सरकारी नौकरी करेंगे। किसी व्यवसाय को अपनाने की बात तो उसके जहन में कभी आयी ही नहीं थी। वास्तव में, बाद में भी, जीवन के व्यावसायिक पहलू को उन्होंने कभी महत्व नहीं दिया। बंधी-बंधायी नौकरी या किसी स्थायी व्यवसाय की बात उनके दिमाग में ही कभी नहीं आयी। उनका मानसिक गठन ही दूसरे प्रकार का था। सरकारी नौकरी तो उनके लिए असह्य थी। इसके अतिरिक्त, उन दिनों देश में जैसा माहौल पाया जाता था, उसमें सरकारी अफसरों को जनता के उत्पीड़न का सीधा-सीधा माध्यम माना जाता था। मुमकिन है, यदि पिता जी आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न नहीं होते, और बलराज को अपने पांवों पर खड़ा होना पड़ता, तो उन्हें अपने भावी व्यवसाय की चिंता होती। पर स्थिति ऐसी नहीं थी, इसलिए वह इन बातों की ओर लापरवाह रहते थे।

छुट्टियों में जब बलराज पहली बार रावलपिण्डी आये तो वह कालिज का ब्लेज़र कोट पहने हुए थे, सिर पर सोला टोपी थी, और उनके पास कालिज की जिंदगी के बारे में ढेरों रोचक किस्से-कहानियां सुनाने को थीं। वह बड़े खुश नज़र आते थे, उत्साह बल्लियों उछल रहा था। वह उस आज़ाद माहौल में रहने का मज़ा लेकर आये थे जिसका अनुभव उन्हें पहले रावलपिण्डी में नहीं हुआ था। तरह-तरह के नये अनुभवों ने उन्हें प्रभावित किया था। वह बार-बार अपने अंग्रेज प्राध्यापकों की चर्चा करते, विशेष रूप से एरिक डिकिन्सन और लैंगहार्न की, कालिज की बोट-क्लब के बारे में बताते, जिसके वह सदस्य बन कर आये थे। अपने नये मित्रों, प्रेम किरपाल आदि के किस्से सुनाते। बलराज सुनाते कि एरिक डिकिन्सन आक्सफोर्ड का स्नातक था और उसे साहित्य में सचमुच गहरी दिलचस्पी थी। साथ ही उसे छात्रों के साथ उठना-बैठना बहुत पसंद था, छात्र बड़ी बेपरवाही से उसके बंगले के अंदर आते-जाते रहते थे और उसे बड़े स्नेह से 'डिकी' कह कर पुकारते थे। वह बड़े ठाठ मे रहता है, कुछ-कुछ हिंदुस्तानी महाराजों की तरह बलराज सुनाते। उसके पास सात कमरों का घर है और सभी कमरे किताबों से ठसाठस भरे हैं और जगह-जगह गौतम बुद्ध की मूर्तियां सजी हैं, और हर मूर्ति पर रोशनी इस ढंग से लगायी गयी है, कि बटन दबाते ही गौतम बुद्ध के चेहरे पर दैवी मुस्कान खिल उठती है। उसके भोजन-कक्ष मे, एक बड़ा-सा काले रंग का गोल मेज है, जिसके ऐन बीचो-बीच फूलों से सजी एक गोल तश्तरी रखी रहती है। बिजली की रोशनी केवल उन फूलों की तश्तरी पर पड़ती है। बाकी कमरे में अंधेरा-सा बना रहता है। वह बड़ा खुश तबियत आदमी है, उसके पुराने कोट की कोहनियों पर चमड़े के धब्बे लगे रहते हैं, मुंह में सारा वक्त पाइप रहता है, और स्वभाव से बड़ा विनम्र और मिलनसार है, उन बद-मिजाज ब्रिटिश सैनिक अफसरों जैसा नहीं, जिन्हें हम रावलपिण्डी में देखते रहे हैं।

लैंगहार्न की चर्चा भी बलराज बड़ी गर्मजोशी से करते रहे। "तुम नहीं जानते। वह शेक्सपियर तक की आलोचना कर डालता है। वह 'हेमलेट' में से एक अंश पढ़ेगा और कहेगा, "यहां पर एक संवेदनशील कवि नहीं बल्कि स्ट्रेटफोर्ड-आन-एवन का देहाती गवार बोल रहा है।" बलराज इन दोनों प्राध्यापकों—डिकिन्सन और लैंगहार्न से प्रभावित हुए थे और बड़े उत्साह से अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन करने लगे थे।

गवर्नमेंट कालिज में बलराज अंग्रेजी में कहानियां लिखने लगे। कुछेक कहानियां कालिज की पत्रिका, 'रावी' में प्रकाशित हुई थीं। इनमे से एक,

मर्मस्पर्शी प्रेम-कथा थी, जिसका घटना-स्थल, चिनारी नाम का एक गांव है जो रावलपिण्डी से काश्मीर की ओर जाते हुए रास्ते में पड़ता है।

बारिश में सड़क का टुकड़ा बह जाने के कारण आमद-रफ्त बंद हो जाती है और मुसाफिरों को एक पड़ाव पर रुक जाना पड़ता है। एक नौजवान मुसाफिर एक ढाबेवाले के घर में पनाह लेता है और वहां रहते हुए ढाबे वाले की युवा पत्नी के प्रति कोमल-सी आसक्ति उसके दिल में पैदा होने लगती है। पर प्रेम का अंकुर फूट ही रहा होता है, जब सड़क की मरम्मत हो जाने पर रास्ता खुल जाता है, और मोटरों-लारियां का काफिला फिर से श्रीनगर की ओर रवाना हो जाता है।

उन्हीं दिनों बलराज ने कुछेक कविताए भी लिखी, जिनमे से एक की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :

> हाथ में कलम हो···
> नीचे, उजला सफेद कागज़
> तो आकाश से देवता उतरने लगते हैं !

दूसरी बार छुट्टियों मे जब बलराज घर पर आये तो अपने साथ पाश्चात्य संगीत के अनेक ग्रामोफोन रेकार्ड भी लेते आये। इनमे बीथोवन का 'मूनलाईट सोनाटा', कोज़लर का वायोलिन-वादन 'पैथेटिक' और रिम्स्की-कर्साकोव का 'शहरज़ाद' भी शामिल थे। इन्हें बलराज ने डिकिन्सन के घर पर सुना था और उस संगीत पर मुग्ध हो गये थे। वह शैली के काव्य के बारे में भी बड़े उत्साह से बातें किया करते, और 'रिवोल्ट आफ इस्लाम', 'प्रोमीथियस अनबाउण्ड' और 'ओड टू दि वेस्ट विंड' मे से पंक्तियां पढ़-पढ़ कर सुनाते। वह अपने साथ कलाचित्रों की भी कुछेक अनुकृतियां लेकर आये थे जिनमे बाटिसेली का भी एक विख्यात चित्र था। बलराज के ही मुंह से पहली बार मोना लिज़ा, माइकल ऐंजिलो, और लियोनार्डो दा विंची के नाम सुनने को मिले।

कालिज की पढ़ाई के अतिरिक्त बलराज कालिज की बोट-क्लब के सहायक सचिव नियुक्त किये गये थे। वह नाटक मण्डली मे भी शामिल हो गये थे, साथ ही साथ यूनीवर्सिटी यूनियन के भी सक्रिय सदस्य बन गये थे—बाद में उन्हें तत्कालीन वाईस चांसलर ए. सी. वुल्नर द्वारा इस यूनीवर्सिटी यूनियन का प्रधान नियुक्त किया गया था। बलराज गाहे-बगाहे कविताएं और कहानियां भी लिख रहे थे।

गवर्नमेन्ट कालिज में ही बलराज को सबसे पहले यथार्थवादी नाटक से जानकारी हासिल करने का मौका मिला। उन दिनो गवर्नमेन्ट कालिज की

नाटक मंडली की बागडोर दो जाने-माने व्यक्तियों—गुरुदत्त सोंधी और अहमद शाह बुखारी के हाथ मे थी। सोंधी आक्सफ़ोर्ड के छात्र रह चुके थे और यह सुनने में आया था कि आक्सफ़ोर्ड के मंच पर उन्हें हैमलेट की भूमिका में अभिनय करने का भी गौरव प्राप्त हुआ था, जबकि बुखारी कैम्ब्रिज से पढ़ कर आये थे, और नाटक की मंचन-कला से भली-भांति परिचित थे। अपने नाटकों के लिए गवर्नमेन्ट कालिज मशहूर था। बुखारी उत्कृष्ट निर्देशक थे और सोंधी स्टेज की साज-सज्जा में माहिर थे। दोनों मिल कर बहुत बढ़िया नाटक प्रस्तुत करते थे। उनकी नाटक-प्रस्तुति की विशिष्टता उनकी यथार्थवादी अभिव्यंजना में हुआ करती थी। मंच पर अभिनेता सहज-स्वाभाविक ढंग से, बोलचाल के लहजे में अपने संवाद बोलते, पारसी थियेटर के अतिरंजित और 'तकरीरी' लहजे में नहीं। मंच की साज-सज्जा भी यथार्थवादी हुआ करती थी। नाटक अक्सर पाश्चात्य नाटकों के रूपांतर हुआ करते थे, पर उनमे बडी विविधता पायी जाती थी। निर्देशक के नाते बुखारी बड़े मेहनती थे और सदा इस बात पर बल देते थे कि एक-एक भंगिमा, शरीर की एक-एक गति स्वाभाविक हो, बोलते समय एक-एक विराम, 'सहज' बोलचाल के अनुरूप हो, उसमे कुछ भी नाटकीय अथवा बनावटी नही होना चाहिए, 'तकरीरी' ढंग से बोलने और हाथ उछाल-उछाल कर अपने वाक्य बोलने की कड़ी मनाही थी।

बलराज ने अधिक नाटको में अभिनय तो नही किया पर ड्रामा-क्लब के साथ सक्रिय सहयोग से उन्हे बाद मे, रंगमच और फिल्मी क्षेत्र दोनों मे ही बहुत लाभ हुआ। नाटको की प्रस्तुति मे छोटी से छोटी बात की ओर ध्यान दिया जाता था, उनमे किसी प्रकार का ढीलापन अथवा असंतुलन नहीं रहता था, बडी चुस्त प्रस्तुति हुआ करती थी, वेशभूषा, मच-सज्जा, सबकी ओर ध्यान दिया जाता, किसी काम में अधकचरापन नही होता था, सब काम सुव्यवस्थित और सुनियोजित होता। नाटको के अनुवाद उच्च स्तर के होते, और यह काम उर्दू के जाने-माने लेखक, इम्तियाज़ अली ताज किया करते थे। उन दिनों, लड़कियों के पार्ट लडके खेला करते थे, और "The Man who ate the Popomack" नामक नाटक मे बलराज ने, जो उन दिनों एम. ए. के छात्र थे, लेडी फ़ायलो की भूमिका में अभिनय किया था। कालिज की पढाई के दिनों में वहां चेकोस्लोवाकिया के प्रसिद्ध लेखक केरेल चेपेक का विख्यात नाटक "R.U.R.", तथा एच. सी. नन्दा का, "लिली दा व्याह" (पंजाबी) आदि खेले गये थे। कालिज छोड़ने के लगभग दो वर्ष बाद उसी कालिज में बलराज ने "Builder of Bridges" के मचन मे भी सक्रिय रूप से भाग लिया था।

1933 में ही, जब बलराज अपनी पढाई के अंतिम वर्ष में थे, मैंने उसी

में दाखिला लिया और हम दोनों लगभग एक साल तक लाहौर में एक साथ रहे। उस वक्त तक गवर्नमेन्ट कालिज के प्रति बलराज का उत्साह बहुत कुछ ठण्डा पड़ चुका था, बल्कि उनकी दृष्टि बहुत कुछ आलोचनात्मक हो चुकी थी। उन पर अब कालिज के ठाठ-बाट या कालिज के प्राध्यापकों के 'शाहाना अंदाज़' का कोई असर नहीं होता था। अब तक उन्हें बोट-क्लब का कालिज-कलर मिल चुका था, और वाइस चांसलर द्वारा वह यूनीवर्सिटी यूनियन के प्रधान भी नियुक्त किये जा चुके थे। शायद इसी आलोचनात्मक दृष्टि के ही कारण उन्होंने गुस्से में आकर बोट-क्लब के सचिव पद से इस्तीफा भी दे दिया था। क्लब के हिसाब-किताब में कहीं छोटी-सी गलतफहमी थी, और क्लब के आनरेरी प्रेसीडेण्ट, जार्ज मेथाई ने जब बलराज से अपना पक्ष साफ करने को कहा तो बलराज ने तुनक कर इस्तीफ़ा दे दिया। बाद में एक बार प्रोफेसर मेथाई ने जब बड़े स्नेह से बलराज से अपना कार्यभार फिर से संभालने को कहा तो बलराज का उत्तर बड़ा दो-टूक पर कुछ-कुछ बचकाना-सा था, "सर, मेरे पास आत्म-सम्मान की जो थोड़ी-सी पूंजी बच रही है, उसे मैं गंवाना नहीं चाहता।"

जिस यूनीवर्सिटी यूनियन का बलराज को प्रधान बनाया गया था, वह एक छात्र-संगठन तो था पर उसकी बागडोर यूनीवर्सिटी के अधिकारियों के हाथ में थी। पैसा भी वहीं से आता था। एक ओर छात्र-संगठन भी था, जिसका नाम स्टूडेंट्स यूनियन था, और उसके साथ विशाल छात्र-समुदाय जुड़ा हुआ था। यह छात्र-संगठन राष्ट्रीय आंदोलन से उत्प्रेरित था। यूनीवर्सिटी यूनियन, वास्तव में, छात्रों को राजनीति और राष्ट्रीय संघर्ष से दूर रखने का एक माध्यम था। इस यूनियन के तत्वावधान में व्याख्यान, सेमिनार और सम्मेलन आयोजित किये जाते, जिनमें "बौद्धिक" और साहित्यिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया जाता। एक बार ऐसे ही बुद्धि-जीवियों के एक सम्मेलन में भाग लेते हुए, उसके अंतिम सत्र में बलराज ने, अपने छोटे से भाषण में मानो एक ढेला दे मारा :

"इस सम्मेलन का मुझ पर कैसा प्रभाव पड़ा है, इसका कुछ संकेत दे पाने के लिए मैं आपको पंजाबी का एक किस्सा सुनाता हूं जो कुछ-कुछ इस प्रकार है : एक आदमी दूसरे से कहता है : "मेरे घर में कोठा है, कोठे पर परकोठा है, परकोठे में एक संदूक में एक थैला है, थैले में एक बटुआ है, बटुए में एक खोटा पैसा है। वह पैसा मैं भुनवाऊंगा, तुम्हें मिठाई खिलाऊंगा।"

और बलराज यह कह कर बैठ गये।

एक अन्य अवसर पर, किसी डिनर पार्टी में, जहां यूनीवर्सिटी के बहुत से अधिकारी और प्राध्यापक उपस्थित थे, बलराज ने अपने संक्षिप्त किन्तु दो टूक भाषण में कहा :

"हमारे देश की शिक्षा प्रणाली की तुलना एक डिनर पार्टी से की जा सकती है। मेहमान बढ़िया डिनर सूट पहने हैं, मेज पर चांदी के पात्र और छुरी-कांटे हैं, बढ़िया वर्दियां पहने वेटर तैनात हैं, पर अफ़सोस, मेज पर खाने के लिए कुछ भी नहीं!"

इस तरह के भाषणों में एक प्रकार का व्यवस्था-विरोध झलकता था, बलराज अन्य विद्यार्थियों की भांति निर्धारित लीक पर चलने से इन्कार कर रहे थे। मानसिक धरातल पर वह एक ऐसी संस्था से जुड़ नहीं पा रहे थे जो ब्रिटेन के हितों की रक्षा करती थी। इसी कारण विरोध के स्वर ऐसी छोटी-छोटी टिप्पणियों में सुनायी पड़ने लगे थे।

लाहौर-निवास के दिनों में जिस किसी व्यक्ति ने बलराज को देखा होगा, उसे बलराज का विचित्र-सा हुलिया कुछ-कुछ जरूर याद होगा— पटीचर साइकिल पर सवार, अनूठे ढंग के कपड़े पहने, सिर पर पट्टू की गोल टोपी, ऊपर से बैठी हुई, नीचे कालिज का लाल ब्लेजर, और उसके नीचे स्काटलैंड के चलन की ब्राउन रंग की निक्कर—वाकर। इस अनौपचारिक पोशाक का नमूना बलराज और उनके मित्र चेतन आनंद ने तैयार किया था, और दोनों की कोशिश थी कि अन्य विद्यार्थी भी इसे अपना लें। गवर्नमेन्ट कालिज के बंधे-बंधाये विधि-नियम और आचार-संहिता का वे इस तरह से विरोध कर रहे थे।

गवर्नमेन्ट कालिज के बारे में बलराज अक्सर बड़ी तेज-तर्रार बातें कर जाते। एक बार दीपावली के अवसर पर हम दोनों भाई अनारकली बाजार में से जा रहे थे। बाज़ार में खचाखच भीड़ थी। किसी विद्यार्थी ने किसी राह-चलती लड़की के साथ बदतमीज़ी की। बलराज झट से मुझे कहने लगे: "वह लड़का जरूर लॉ कालिज का विद्यार्थी होगा। लॉ कालिज के लड़के इस तरह के व्यवहार के लिए बदनाम हैं। पर यह मत समझना कि गवर्नमेन्ट कालिज के छात्र उनसे किसी तरह बेहतर हैं। वह इससे भी बुरा व्यवहार करेंगे पर बड़े सलीके के साथ, कहीं लुक-छिप कर।"

एक अन्य मौके पर, अखबार में छपी भारतीय हॉकी टीम की तस्वीर को देख कर बलराज कहने लगे: "तस्वीर में तुम गवर्नमेन्ट कालिज के छात्र को झट से पहचान लोगे। जब भी कोई तस्वीर उतारी जाने लगती है तो गवर्नमेन्ट कालिज का खिलाड़ी दस अन्य खिलाड़ियों को कोहनी मार कर आगे आकर खड़ा हो जाता है।"

वह अक्सर कहा करते, "यह कालिज समूचे प्रदेश के उत्कृष्ट लड़कों को खींच लाता है, और फिर उन्हें घृणित नौकरशाही में बदल देता है।" एक बार बलराज हमारे ही एक नजदीकी रिश्तेदार के बारे में बड़ी वितृष्णा से बात

रहे थे। उस युवक ने अपने शोध-प्रबंध में कांग्रेस के कार्यकर्ताओं के लिए 'कांग्रेस वाला' शब्द का प्रयोग किया था, जैसे ठेले वाला, टांगे वाला आदि।

सिविल सर्विस में दाखिल होने का तो बलराज को कभी ख्याल तक नहीं आया। इसका एक कारण तो हमारे पारिवारिक संस्कार भी रहे होंगे, पर दूसरा बड़ा कारण यह था कि उन दिनों लोग नौकरशाही से नफरत करने लगे थे, क्योंकि वह देश में जनता के उत्पीड़न का साधन बन गयी थी।

जिन दिनों "The Man who ate the Popomack" नामक नाटक खेला जा रहा था, एक छोटी-सी घटना घटी, जो अपने में विशेष महत्व तो नहीं रखती, पर उससे बलराज के साहसिक स्वभाव का पता चलता है। गवर्नमेन्ट कालिज में नाटक अक्सर रात के नौ बजे, भोजन के बाद खेले जाते थे। शो के बाद, सभी अभिनेता तथा कालिज के अधिकारी, स्टाफ-रूम में इकट्ठा हो जाते, जो काफी लम्बा-चौड़ा था, और वहां एक लम्बे-से मेज पर बैठ कर नाश्ता करते। छात्रों को केवल चाय और डबलरोटी के टुकड़े मिलते, जबकि अध्यापक और अधिकारी सैंडविच और शामी कबाब और पुडिंग खा रहे होते। यदि अध्यापक किसी अलग कमरे में खाना खाते तो अटपटा नहीं लगता, पर वे तो उसी मेज पर अपने सैंडविच और पुडिंग का मजा लेते, जबकि छात्र सूखी डबलरोटी चबा रहे होते। एक दिन, अभिनय के बाद जब सभी अभिनेता स्टाफ-रूम में इकट्ठा हुए, तो पता चला कि प्राध्यापकों के टिफिनबाक्स खाली पड़े हैं। जिस समय नाटक चल रहा था, उस समय कुछ मनचले लड़के उनका खाना साफ कर गये थे। मैं यकीनी तौर पर तो नहीं कह सकता कि बलराज भी उन्हीं लड़कों में शामिल थे पर इतना जरूर जानता हूं कि बलराज इस घटना पर खुश बहुत हुए थे कि बहुत ऐंठने-अकड़ने वाले प्राध्यापकों को अच्छा सबक सिखाया गया है। प्राध्यापक कुछ नहीं बोले, चुप्पी साधे रहे। जब किसी ने उनकी ओर से सफाई देते हुए कहा कि प्राध्यापक अपना खाना घर से लाये थे, तो बलराज झट से बोले, "इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। जब हम लोग सूखी डबलरोटी खा रहे हैं, तो वे हमारे सामने बैठ कर कटलेट और पुडिंग क्यों उड़ायें?"

उन दिनों जब गवर्नमेन्ट कालिज के अध्यापक अपने को आई. सी. एस. के अफसरों से कम नहीं समझते थे, बल्कि उन्हीं की तरह व्यवहार भी करते थे, इस तरह की टिप्पणी करना जरूर कुछ मानी रखता था।

एम. ए. की कक्षा तक पहुंचते-पहुंचते बलराज की दिलचस्पी खेल-कूद में कुछ कम हो गयी थी, पर उन्हें कालिज के तैराकी तालाब में तैरने, घूमने और सैर-सपाटे का अभी भी बहुत शौक था। ज्यादा वक्त तो वह विश्वविद्यालय

की परिधि में ही घूमते थे, कालिज और यूनीवर्सिटी के पुस्तकालयों में जाते, एरिक डिकिन्सन का घर, यूनीवर्सिटी, यूनियन का कार्यालय और कभी-कभार स्टिफ्फलस और लोरंग के रेस्तरानों मे जो उन दिनो माल रोड पर स्थित थे, और कालिज के युवकों के लोकप्रिय अड्डे हुआ करते थे। उन दिनो काफी हाउस नहीं हुआ करता था, वह कुछ वर्ष बाद खोला गया था। बलराज को पढ़ने का बहुत शौक था, हालांकि वह नियमित और व्यवस्थित ढंग से नही पढ़ पाते थे। यों तो उनके किसी काम में भी नियमबद्ध व्यवस्था नही थी। जिन दिनों वह एम. ए. (अंग्रेजी) की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, उनके सिर पर सहसा धुन सवार हुई कि उन्हें पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों के अतिरिक्त एच. जी. वेल्स के अन्य उपन्यास भी पढ़ डालने चाहिए, केवल उन्ही दो उपन्यासों तक बस नहीं कर देना चाहिए, जो कोर्स में लगे थे। चुनांचे तैयारी के उन इने-गिने दिनों मे, कोर्स के नावलों पर ध्यान केन्द्रित करने के बजाय वह एच. जी. वेल्स के अन्य उपन्यास पढने लगे। उन्हें लगता था जैसे इम्तहान उनके साहित्य अध्ययन मे रुकावट बन रहा है। नतीजा यह हुआ कि पर्चा खराब कर आये।

उन्ही दिनों कालिज के अंतिम वर्ष में ही एक दिन वह बड़े उत्तेजित से घर लौट कर आये। उन दिनो हम कूपर रोड के बंगला न. 16 में रहते थे जहां हमने अपने एक मित्र के वंगले में दो कमरे किराये पर ले रखे थे। बलराज, उस दिन, बाल कटवाने माल रोड के किसी फैशनेबुल सैलून मे गये थे। घर लौटते ही उन्होंने कालिज की पत्रिका की प्रति उठायी, जिसमे उनकी एक कहानी छपी थी। साइकिल पर पांव रखा, और बाहर निकल गये। लगभग आधे घण्टे वाद लौट कर आये। अब भी वह बड़े उत्तेजित लग रहे थे।

"क्या बात है ?" मैंने पूछा। उनका चेहरा दमक रहा था। "बाल काटने वाले सैलून में एक ऐंग्लो-इंडियन लड़की ने मेरे बाल काटे हैं। जब मैंने उसे बताया कि मैं कहानिया लिखता हूं तो उसने मेरी कहानियां पढ़ने की ख्वाहिश जाहिर की। इसीलिए मैं कालिज की पत्रिका उसके पास ले गया था। उसे साहित्य मे गहरी रुचि है। वह सचमुच बड़ी समझ-बूझ वाली लड़की है।"

बाल काटने वाली इस 'सुंदर और सुसंस्कृत' युवती ने बलराज की कितनी कहानियां पढ़ीं, मैं नही जानता। पर लगता है यह परिचय बहुत आगे नही बढ पाया, क्योंकि बाद में बलराज ने इसका कभी जिक्र नही किया।

उन दिनो बलराज के कई नये दोस्त बने, कही-कही पर गहरी और स्थायी मैत्री पनपी, विशेष कर काश्मीर में जहां हमारा परिवार गर्मी का मौसम बिताने जाया करता था। एक तो बलराज बड़े खबसूरत नौजवान थे, इस पर उन्होने

बड़ी हंसमुख, और मिलनसार तबीयत पायी थी—जब वह अपने किस्से सुनाते तो लोग दत्तचित्त होकर सुनते, फिर हंसोड़ तबीयत के थे। उत्साह फूट-फूट पड़ता था—उनके साथी सचमुच उनके साथ मिल बैठने के मौके ढूंढ़ा करते थे। हमारी फुफेरी बहन की एक सहेली बलराज की गहरी प्रशंसक बन गयी थी। उसे एक रात सपना आया कि बलराज संयुक्त राष्ट्र अमरीका के प्रधान चुने गये हैं, और उसे मिलने के लिए एक ऊंचे से ज़ीने से बड़े ठाठ से नीचे उतर रहे हैं। दूसरे एक मौके पर, एक और लड़की ने जो किसी बात पर बलराज से रूठ गयी थी, तुनक कर कहा, "इस बात पर बहुत एंठो नहीं कि तुम बड़े खूबसूरत हो। तुम्हारा बाप तुम से कहीं ज्यादा खूबसूरत है।" उन दिनों युवकों और युवतियों का सामाजिक जीवन अधिकतर पारिवारिक परिधि में ही घूमता था। वहीं पर दोस्ती और प्रेम पनपते थे। लड़के और लड़कियां जिस प्रकार बाद में खुले आम और निर्विघ्न रूप से एक दूसरे से मिलने लगे थे, विशेषकर बड़े शहरों में और विश्वविद्यालयों में, ऐसा उन दिनों हमारे यहां बहुत कम देखने को मिलता था। ये दोस्तियां, परंपराओं और रूढ़ियों के चौखटे में घिरी, शिष्ट और यथोचित बनी रहतीं।

बलराज आज़ाद-ख्याल और उतावली तबीयत के युवक थे। वे अक्सर ऐसी हरकतें करते जो किसी सामान्य व्यक्ति को सूझ भी नहीं सकती थी। पर यह समझना भूल होगी, कि बलराज की दिलचस्पियां किसी निश्चित दिशा की ओर पनपने लगी थीं या यह कि उन्होंने किसी दृढ़ाग्रह का रूप ले लिया था, या उनके मन पर कोई गहरी धुन सवार हो गयी थी। किसी-किसी वक्त वह बड़ी दृढ़ता का परिचय देते, जो धृष्टता की हद तक पहुंच जाती। वह संवेदनशील और साहसी तो थे ही, गवर्नमेन्ट कालिज की चारदीवारी के बाहर जो कुछ घट रहा था, उसके प्रति सचेत भी थे, और उसके प्रति उनकी प्रतिक्रिया बड़ी तीव्र भी हुआ करती थी। गवर्नमेन्ट कालिज के सामान्य छात्र की तुलना में सामाजिक दृष्टि से वह अधिक सचेत भी थे, लेकिन उन दिनों उन्होंने अपने लिए कोई निश्चित व्यवसाय अथवा ध्येय स्थिर कर लिया हो, ऐसा नहीं था।

उन दिनों हमारा परिवार गर्मी का मौसम श्रीनगर में बिताया करता था। वहां पर पिता जी ने, अपनी स्वर्गीया बहन के घर के पास—जिनका परिवार बहुत बड़ा था—अपना भी एक मकान बनवा लिया था। एक बार हम सब लोग किसी शाही बाग में पिकनिक करने गये। वहां पर बलराज पर धुन सवार हुई कि एक ही छलांग में वह शाही बाग का नाला पार करेंगे। नाला गहरा तो नहीं था लेकिन खासा चौड़ा था, और उसके दोनों किनारों पर पत्थर की सिलें लगायी गयी थीं। अन्य लड़के भी इस खेल में शामिल हो गये। पर यह खेल बड़ा

जोखिम भरा था। अगर छलांग लगाते समय नाले [illegible] पार नहीं कर [illegible], तो पांव पानी में गिरता था और नाले का तला, समतल न हो [illegible] ऊबड़ [illegible] था जिससे मोच आ सकती थी, हड्डी भी टूट सकती थी। बलराज ने एक [illegible] बाद एक, तीन बार छलांग लगायी, पर कामयाब नहीं हुए। हर बार वह दूर से भागते हुए आते पर दूसरे किनारे पर पहुंचने के बजाये उनका पांव सीधा पानी में गिरता। अन्य लड़कों ने भी क़िस्मत-आजमाई की, वे भी कामयाब नही हुए पर उन्होंने कोशिश करना छोड दिया और वहां से हट गये। पर बलराज ने हार नहीं मानी। वह बार-बार कोशिश करते रहे। सांस लेने के लिए वह किसी-किसी वक्त थोड़ी दूर देर के लिए बैठ जाते, पर फिर उठ कर कोशिश करने लगते। पर अंत मे वह नाला पार करने मे सचमुच सफल हो गये, और तब वह विजेताओं की-सी मुद्रा में, हंसते-ऐंठते हुए हम लोगों के बीच लौट आये।

मुझे एक और घटना भी याद आती है, जो इससे भी ज्यादा जोखिम भरी थी। यह घटना भी श्रीनगर मे ही घटी थी। श्रीनगर की प्रदर्शनी के अहाते मे लकड़ी की ऊंची स्लाईड खड़ी की गयी थी, जिस पर से लोग फिसल कर नीचे आते थे। बलराज को क्या सूझी कि उन्होंने उस पर से खड़े होकर फिसलने का फ़ैसला कर लिया। स्लाईड की सतह बड़ी चिकनी थी, और वे लोग भी जो कूल्हो के बल बैठकर उस पर से फिसलते थे, वे भी अक्सर अपना संतुलन खो बैठते थे और औंधे मुंह नीचे आ कर गिरते थे। खड़े होकर फिसलने का मतलब मुसीबत को बुलावा देना ही था। खड़ा होकर फिसलने वाला व्यक्ति संतुलन खो बैठने पर सिर के बल गिर सकता था और अपनी हड्डी-पसली तोड़ सकता था। वह दायें या बायें, स्लाईड के कटहरे पर से नीचे की ओर जमीन पर सीधा गिर सकता था, और बुरी तरह जख्मी हो सकता था। पर बलराज को रोकना आसान काम नही था। दो बार उन्होने कोशिश की और दोनों ही बार वह बुरी तरह से गिरे, घुटनों से पतलून फट गयी, और जिस्म पर जगह-जगह खरोचें आयीं। पर यहां पर भी उन्होने हार नही मानी और जुटे रहे। नीचे खड़े उनके मित्र और संबंधी घबरा गये और उनसे बिगड़ने लगे, पर अंत में खड़े होकर फिसलने का गुर बलराज की समझ में आ गया, और इस तरह वह खड़े-खड़े स्लाईड पर से फिसल कर बड़ी शान से दोनो हाथ फैलाए और सीधे-सतर खड़े, नीचे उतरे।

जो घर पिता जी ने श्रीनगर में बनवाया था, उसमें भी बलराज ने अपनी ओर से तरह-तरह के मौलिक आविष्कार जोड़े थे। बाहर की दीवार में उन्होने फाटक को मेहराबदार फाटक का रूप देने का फ़ैसला किया, दूर से देखने पर वह किसी गिरजे का फाटक लगता था। उन्होने आठ कोनों वाला एक खाने का

मेज़ भी डिज़ाइन किया, साथ ही कपड़े टांगने के लिए लकड़ी की ऐसी खूंटियां बनवायीं जो ऊपर को उठी थीं, और बरामदे में रखने के लिए नीची किस्म की बैठने की कुर्सियां बनवायीं, आदि-आदि। इन सब ईजादों पर पिता जी का अच्छा खासा पैसा खुल गया था पर इनसे घर की साज-सज्जा सचमुच बड़ी मौलिक और आकर्षक बन गयी थी।

काश्मीर में उन दिनों महाराजा हरी सिंह राज करते थे और काश्मीर में छुट्टी मनाने के लिए वहां बहुत से अंग्रेज लोग भी जाया करते थे। गुलमर्ग और सोनमर्ग जैसे स्थानों पर भारी संख्या में यूरोपीय लोग पहुंच जाते। उन दिनों तत्कालीन स्थिति के प्रति मध्यवर्ग के हमारे शिक्षित युवकों की दृष्टि कुछ विचित्र-सी हुआ करती थी। उनकी नजर में काश्मीर का राजा हरी सिंह एक विद्रोही राजा था। उनकी समूची सहानुभूति उस राजा के प्रति थी और वे अंग्रेजों को दखलदाज समझते थे। राजगद्दी पर बैठने के शीघ्र ही बाद, राजा हरी सिंह ने कुछेक ऐसे कदम उठाये थे जिनके कारण नौजवान लोग उसका बड़ा मान करने लगे थे। कहा जाता था कि महाराजा ने ब्रिटिश रेजिडेण्ट को धत्ता बताया है और निश्चय किया है कि काश्मीर में केवल एक ही झंडा लहरायेगा और वह महाराजा काश्मीर का झण्डा होगा। यह भी सुनने में आता था कि महाराज ने अपने लिए 21 तोपों की सलामी का भी फैसला किया है, जबकि 21 तोपों की सलामी केवल ब्रिटिश वाइसराय को दी जाती थी। शीघ्र ही महाराज को अपनी असलियत का अहसास करा दिया गया था और वह अंग्रेजों के हाथों अपमानित भी हुआ था। लेकिन युवकों की दृष्टि में वह अपने अधिकारों के लिए डट कर खड़ा होने वाला व्यक्ति था, और वे इससे बहुत प्रभावित हुए थे। वे ये भी मानते थे कि बहुत से किस्से, जो महाराज के बारे में, प्रचलित थे, उन्हें अंग्रेजों ने जान-बूझ कर महाराज को बदनाम करने के लिए फैला रखा था। इसी के फलस्वरूप काश्मीर में ब्रिटिश सैलानियों के प्रति नौजवानों का रवैया बहुत कुछ विरोधपूर्ण रहता था। गुलमर्ग में एक दिन बलराज घोड़े पर सवार पहाड़ी सड़क पर हवाखोरी कर रहे थे, जब सामने से एक अंग्रेज चला आया। पास से गुजरने पर उस अंग्रेज ने कहा, "तुम्हें घोड़े को इतनी बुरी तरह से चाबुक नहीं मारना चाहिए।" बलराज ने घोड़ा रोक लिया और छूटते ही बोले :

"मैंने अंग्रेजों को इससे भी ज्यादा बुरी तरह इंसानों को पीटते देखा है। घोड़े के प्रति आपकी सहानुभूति बड़ी बेतुकी-सी जान पड़ती है।"

उन्हीं दिनों काश्मीर में, व्यापक स्तर पर, महाराज की हुकूमत के खिलाफ जन-विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। उसके उद्देश्य बहुत साफ नहीं थे और मध्यवर्ग

के युवक उद्भ्रांत से हो गये थे और जनता के संघर्ष के प्रति उनके दिल में कोई विशेष आग्रह नही पाया जाता था। कभी-कभी काश्मीरियों का मज़ाक उड़ाया जाता, उनकी खिल्ली उड़ाने के लिए लतीफे गढ़े जाते, कहा जाता कि जब काश्मीरियों पर लाठी चार्ज होता है तो वे अपने चप्पल और 'लोइयां'[1] वही ज़मीन पर छोड, भाग खड़े होते हैं। अंग्रेजों के खिलाफ तो नफरत का जज़्बा थोड़ा-बहुत पाया जाता था पर संघर्षरत काश्मीरियो के प्रति भी कोई सद्भावना नही पायी जाती थी। इसलिए एक दिन दोस्तो के बीच बैठे हुए बलराज ने जब यह वाक्य कह डाला तो कुछ लोग बहुत चौंके। बलराज ने कहा :

"यहां की सारी धन-दौलत पर अधिकार या तो राजा का है या फिर उन पंजाबी व्यापारियों का जो स्थानीय जनता का शोषण कर रहे हैं" और यहां के रहने वाले नहीं हैं।

बलराज की इस टिप्पणी से बहुत से लोगों ने नाक-मुंह सिकोड़ा था।

काश्मीर के साथ बलराज के सबध जो सन् 30 के आस-पास शुरू हुए थे, धीरे-धीरे और गहरे और आत्मीय होते चले गये थे। काश्मीर उनका दूसरा वतन बनता जा रहा था। काश्मीर की काव्यमयी दृश्यावली में उनका मन रमता था। वह मीलों लंबे सैर करते, झीलो में दूर-दूर तक तैरते हुए चले जाते, पहाड़ों पर चढ़ते। वक्त बीतने पर काश्मीर के साथ उनका रागात्मक संबध और गहरा होता गया। यही पर उन्होंने अपनी कुछेक सुंदर कविताएं और कहानियां भी लिखी। आने वाले वर्षों में यही उनकी सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियों का क्षेत्र बनने वाला था।

1. घर का बुना, दोहरा ऊनी कबल।

3 लहौर से वापसी

अंग्रेजी साहित्य में एम. ए. करने के बाद बलराज, अप्रैल, 1934 में, लाहौर से रावलपिण्डी लौट आये और पिता जी के साथ मिल कर व्यापार करने लगे। यह बड़ा अजीब-सा लगता है, कि वह व्यापार करने लगे हों विशेष कर जब इस प्रकार के काम में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। व्यापार करने का निर्णय वास्तव में निर्णय न होकर, एक तरह से निर्णय से आंख चुराना ही था। उन दिनों व्यापार के अतिरिक्त यदि कोई युवक कोई व्यवसाय अपना सकता था तो वह सरकारी नौकरी थी, और सरकारी नौकरी न तो बलराज को पसंद थी और न पिता जी को ही। लेखन कार्य व्यवसाय के रूप में नहीं अपनाया जा सकता था, और मुझे उम्मीद नहीं कि बलराज को एक पेशेवर लेखक बनने का कभी ख्याल भी आया होगा। बलराज का जैसा स्वभाव था, उसे देखते हुए संभवतः बलराज यह समझने लगे थे कि लेखन और व्यापार दोनों साथ-साथ चल सकते हैं।

पिता जी का व्यापार वास्तव में बड़ा सीधा-सादा-सा व्यापार था। उनके पास इंग्लैंड और फ्रांस की कुछेक एजेंसियां थी, जिनके लिए वह बाजार से आर्डर हासिल करते और उन पर कमीशन कमाते थे। वर्षों तक काम करते रहने के कारण उनके कुछेक स्थायी ग्राहक बन गये थे और कुछेक बिकाऊ बढ़ चीजें थी जिनके लिए बिना किसी खास कोशिश के उन्हें आर्डर मिल जाते थे। अक्सर उनके व्यापारी स्वयं ही अपने आर्डर उनके पास भेज दिया करते थे, और पिता जी आर्डर कारखानेदारों या विक्रेताओं तक पहुंचा दिया करते थे। इस तरह इन्डेन्ट के काम में, कोई जोखिम नहीं था, न हीं अपनी ओर से कोई पूंजी लगाने की जरूरत रहती थी। जब पिता जी व्यापार को बढ़ाने की बात किया करते तो उनका इरादा इस व्यापार के साथ कुछेक नई लाइनें जोड़ने का हुआ करता था—जैसे ऊनी कपड़ा, सूती कपड़ा, आदि। जब बलराज उनके साथ मिल कर व्यापार करने लगे तो पिता जी ने फिर से कुछेक पुराने कारखानों के

साथ नये सिरे से संबंध स्थापित करने की कोशिश की और कुछेक नई एजसियां भी हासिल कर लीं। बलराज के लिए इस तरह का इन्डेन्ट का काम करना इसलिए भी ज्यादा आसान था, कि इसमें कोई जोखिम नही था, अपना पैसा लगाने की कोई जरूरत नही थी और इससे बलराज को अपनी दिलचस्पियो के लिए वक्त भी काफी मिल सकता था।

मस्त और बेपरवाह तबीयत के युवक थे बलराज। व्यापार भी वह अपने ही ढंग से करने लगे। कालिज मे उच्च शिक्षा ग्रहण करने, तथा अपनी साहित्यिक रुचि के कारण वह अगर चाहते भी तो देर तक कमीशन एजट नही बने रह सकते थे। एक अच्छा कमीशन एजेंट वह होता है, जो दुकानदारों के साथ मेल-जोल बढ़ाता है, उनकी खुशामद करना जानता है, उनकी सनकें बर्दाश्त करता है और उनसे आर्डर ले पाने के लिए उन्हें तरह-तरह से खुश भी करने की कोशिश करता है। हमारी मंडियों में व्यापारी लोग कमीशन एजेंटों के साथ अक्सर बेरुखी से पेश आते हैं, बल्कि उनकी उपेक्षा की जाती है, विशेषकर ऐसे कमीशन एजेंटों की जो इन्डेण्ट का व्यापार करते हों। अगर तो वह चालू सिक्केबंद माल के लिए आर्डर लेता है तब तो दुकानदार हँस-हँस कर बात करेगा पर अगर वह कोई नई चीज बाजार में चलाना चाहता है तो उसे घण्टों बैठाये रखेगा, और नमूनो को देखेगा भी तो उड़ती नजर से। इसलिए कमीशन एजेंट के लिए ढीठ और 'मोटी खाल' वाला होना बहुत जरूरी होता है। पर अफ़सोस, ये गुण बलराज में नही पाये जाते थे। कोई जरूरतमंद कमीशन एजेंट, जरूर दुकानदारों की चापलूसी करता, उनके तलवे सहलाता, उन्हें कैलेण्डर पेश करता, तोहफे बांटता, और उनके हाथों शर्मसार भी होता रहता। पर बलराज जरूरतमंद नहीं थे। फिर भी बलराज ने यह धंधा पिता जी इच्छा का मान करते हुए खुले दिल से अपनाया, और अपने स्वभाव के अनुरूप ही—जो पुरानी लीक पर नही चल सकता था—इस व्यापार को आगे बढ़ाने की भी कोशिश करने लगे। बाजार में एक फ्लैट किराये पर लिया गया, जहां बाकायदा दफ्तर खोल दिया गया। यहां भी बलराज ने अपने मौलिक ढग से कुर्सी-मेज डिजाईन किये, अर्द्धगोलाकार मेज बनवाया जिसमे बहुत से दराज थे, छत तक ऊंची अलमारियां जिनमे नमूने रखे जाते थे, साथ मे एक दलाल और एक चपरासी भी रख लिये गये।

एक घटना मुझे याद आती है जब बलराज ने अपने निराले अंदाज में, बाजार में 'लाग क्लाथ' की एक नई किस्म चालू करने की कोशिश की। इसमें उनका भोलापन ही झलकता है। दुकानदारो से इसका परिचय कराने के लिए विक्रेताओं की ओर से बलराज के पास 'लांग-क्लाथ' की—जिसे पंजाबी में लट्ठा कहते

हैं—एक गाठ भेजी गयी। ऐसे मौकों पर अक्सर नई किस्म के माल के दो-दो, तीन-तीन थान, बाजार के बड़े-बड़े थोक और परचून व्यापारियों के पास रख दिये जाते है और इस तरह बाजार मे उनकी प्रतिक्रिया जान ली जाती है तथा माल की बिक्री की संभावनाओं का जायजा लगा लिया जाता है। बलराज ने इस काम के लिए निराला ही ढंग अपनाया। उन्होंने फ़ैसला किया कि सबसे पहले माल के नाम का प्रचार करना चाहिए। यह लट्ठा हरेक का लट्ठा (Herrick's Long Cloth) कहलाता था। बलराज ने कालिज के अपने कुछेक पुराने सहपाठियों को जा पकड़ा और उनसे कहा कि वे अलग-अलग दुकानों पर जायें और वहां हरेक के लट्ठे के बारे में पूछें कि दुकानदार के पास है या नही। वह समझे बैठे थे कि इस तरह दुकानदार इस लट्ठे के लिए थोक आर्डर देने के लिए बेताब हो जायेंगे क्योंकि ग्राहक बार-बार उसी की मांग कर रहे थे। पर गुब्बारा फटने में देर नही लगी। एक दुकानदार ने जो स्वयं बलराज का सहपाठी रह चुका था, इन परिचित चेहरों को पहचान लिया और एक लड़के से बोला: 'बलराज को मेरे पास भेजो। मैं उसे सिखाऊंगा कि नया लट्ठा कैसे चालू किया जाता है।'

सच तो यह है कि बलराज अगर ज्यादा संजीदगी से भी इस काम को हाथ मे लेते तो भी व्यापार में ज्यादा तरक्की नहीं कर पाते। पिता जी के लिए बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रों मे बड़े पैमाने पर बिज़नेस करने के सपने देखना एक बात थी, पर ऐसे बिज़नेस को व्यावहारिक रूप देना बिल्कुल दूसरी बात। उन्होंने अपनी जिन्दगी की कमाई बड़ी मेहनत से पैसा-पैसा जोड़ कर, छोटे-छोटे आर्डर लेकर और मामूली कमीशन से संतुष्ट रह कर की थी। अगर उन्होंने सट्टा किया होता तो कम से कम व्यापारियों की-सी जोखिम उठाने वाली ज़हनियत तो उनमें आ जाती। इतना ही नहीं, दौलत कमाने का उन्हे बहुत शौक भी नही था—और वह आदमी व्यापार क्या करेगा जिसे पैसे कमाने का बहुत शौक न रहा हो? एक ऐसा आदमी जो सारा वक्त भक्त कवियों की वाणी का रस लेता रहता हो, धन-लोलुपता की भर्त्सना करे और दान-दक्षिणा, समाज-सेवा के गुण गाता रहे, और अपने बच्चो को सादगी और आध्यात्मिकता की सीख देता रहे, ऐसा व्यक्ति अपना रुपया दांव पर लगा कर बड़े पैमाने का व्यापार कैसे कर पायेगा? जब बलराज अपनी पढाई पूरी करके लाहौर से लौटे, उस वक्त तक पिताजी अपने व्यवसाय से बहुत कुछ अवकाश ग्रहण कर चुके थे और अपना अधिक समय आर्य समाज की सरगर्मियों में लगाने लगे थे। पिता जी अपनी ओर से भारी पूंजी लगाकर व्यापार करने के बहुत ज्यादा हक मे भी नही थे, और बलराज भी कहां चाहते थे कि पिता जी जोखिम उठायें। और फिर, जिस प्रकार के

इन्डेण्ट के व्यापार से पिता जी ने दो पैसे कमाये थे, वह पुराना पड़ चुका था, कारखानेदार चाहते थे कि कमीशन एजेण्ट बाकायदा शो-रूम रखे, और अपनी पूजी से माल खरीद कर स्टाक मे रखे। बिज़नेस बढ़ाने का मतलब था थोक की दुकान खोलना, जिसके लिए न पिता जी तैयार थे और न बलराज ही। बलराज को इन्डेण्ट का काम ज्यादा अनुकूल जान पड़ता था क्योंकि इसमे अपनी पूंजी लगाने का जोखिम भी नहीं था, और वह बाजार के उतार-चढ़ाव के प्रभाव से मुक्त भी था। पर इस तरह का इन्डेण्ट व्यापार ज्यादा देर तक चल नही सकता था।

बलराज बहुत मन लगाकर बिज़नेस नहीं करते थ। ज्यादा वक्त वह अपने पुराने दोस्तों, जसवन्त राय, बख्शी कल्याणदास आदि के साथ ही घूमते-फिरते। लंबी-लबी पैदल-सैर, साइकिलो पर सैर, कविता और राजनीति पर बहस, नये-नये नावलो की चर्चा, आदि-आदि मे ही उनका बहुत-सा वक्त बीतता। कालिज से लौट कर बलराज ने गंभीरता से किसी काम में हाथ नही डाला। उन दिनों वह एक तरह से छुट्टी ही मना रहे थे, हालांकि यह दौर ज्यादा देर तक नही चला। एक छोटी-सी घटना के उल्लेख से ही अंदाज हो जायेगा कि उन दिनों बलराज का वक्त कैसे बीत रहा था।

बलराज के दोस्तों में बख्शी कल्याणदास एक ऐसे व्यक्ति थे जिनकी दिलचस्पियां बलराज की दिलचस्पियों से बहुत कुछ मेल खाती थीं। वह भी घुमक्कड़ तबीयत के और सैर-सपाटे के शौकीन थे। दोनों जवान साइकिलों पर निकल जाते, कभी देहात में ताल-तलैया खोजने के लिए जहां वे तैराकी कर सकें, कभी कोहमरी के पहाड़ों की ओर, और कभी किसी लंबी पैदल सैर पर। सहसा एक दिन इस युवक ने बताया कि उसकी मर्जी के खिलाफ उसकी सगाई कर दी गयी है। इस सगाई को तोड़ने की उसमे हिम्मत नही थी, क्योंकि वह अपने वयोवृद्ध चच्चा को नाराज़ नही कर सकता था, जिसने यह सगाई करवायी थी। बलराज ने अपने दोस्त को इस जाल मे से निकालने का फैसला कर लिया। और वह भी अपने निराले ढग मे। एक दिन दोपहर को बलराज ने उसी वयोवृद्ध चच्चा के नाम एक 'गुप्त' पत्र लिखा, जिसमें बलराज ने उससे प्रार्थना की कि वह उस मासूम लड़की की जिन्दगी बर्बाद न करें, और सगाई तोड़ दें, क्योंकि जिस लडके के साथ सगाई की गयी है वह नामर्द है। खत लिखने के बाद बलराज ने वह खत अपने दफ्तर के चपरासी को दिया कि अमुक जूतों की दुकान पर जाकर दे आओ। वह वृद्ध महोदय ही उस जूतों की दुकान के मालिक थे। खत तो पहुंचा दिया गया, पर अफसोस, बुजुर्ग की आंखों मे धूल नही झोंकी जा सकी। मुजरिम का पता बड़ी आसानी से लग गया। जूतों की

दुकान के एक कारिन्दे ने बलराज के चपरासी को पहचान लिया। बात खुल गयी, वह बुजुर्ग बहुत बौखलाये और उसी शाम बलराज की गैर-जिम्मेदाराना हरकत की शिकायत करने हमारे घर आ पहुंचे। पर बाद में सगाई सचमुच तोड़ दी गयी, क्योंकि लड़की के मां-बाप के ज़हन में हल्का-सा शुबह बना रहा —कि क्या मालूम लड़के मे कोई नुक्स ही हो और निश्चित रूप से बात को प्रमाणित कर पाना भी आसान काम नही था हालांकि लड़का एक पूर्णतः स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट युवक था।

लगभग इसी समय बलराज की अपनी सगाई भी हो गयी और यह सगाई, जसवंत राय की छोटी बहन दमयंती के साथ हुई। इस सगाई का प्रस्ताव, साल भर पहले किया गया था, जब बलराज एम. ए. के अंतिम वर्ष में पढ़ रहे थे। जसवंत राय के प्रति बलराज के दिल में अगाध श्रद्धा और आदर भाव था, वह उन्हें लगभग देवतातुल्य मानते थे, और इस प्रस्ताव से बलराज ने बड़ा गौरवान्वित महसूस किया था। पर साथ ही साथ अपने दो-टूक, खुले स्वभाव के अनुसार पहला मौका पाते ही बलराज ने जसवंत राय को बता भी दिया था कि वह अपनी फुफेरी बहन, संतोष के प्रति आकृष्ट हैं। जसवंत राय ने जहां बलराज के खुलेपन और ईमानदारी की सराहना की, वहां इस 'आकर्षण' को मात्र जवानी के जुनून की संज्ञा देकर रद्द भी कर दिया, साथ ही यह भी बता दिया कि हिन्दुओं मे फुफेरी बहन से शादी का सवाल ही नही उठ सकता। बलराज के लिए जसवंत राय के मुंह से निकला प्रत्येक वाक्य वेद-वाक्य के समान था, और बात वहीं खत्म हो गयी, कम से कम उस वक्त के लिए खत्म हो गयी, और दमयन्ती के साथ बलराज का विवाह 6 दिसंबर, 1936 को रावलपिंडी में संपन्न हुआ। जैसा कि बाद मे देखने में आया, वह न तो जवानी का जुनून ही था, और न ही हिन्दू समाज के विधि-नियम इतने अनिवार्य ही थे कि फूफा-मामा के बेटा-बेटी एक-दूसरे के साथ शादी न कर सकें।

दमयंती बड़ी विलक्षण युवती थी, सुंदर, हंसमुख, उदार हृदय और शीशे की तरह साफ दिल वाली। पांच भाइयों और दो बहनों वाले परिवार में वह सबसे छोटी थी, इस तरह उसे घर में सभी से बड़ा प्यार मिला था, और उसी वातावरण में वह पल कर बड़ी हुई थी। बलराज के जीवन मे उसका पदार्पण सूर्य की किरण के प्रवेश के समान था। दोनो मिलकर बड़ी सुंदर जोड़ी बनते थे।

अपनी पढ़ाई खत्म करने के बाद जब मैं अपने शहर लौटा तो मुझे घर का माहौल बहुत कुछ बदला-बदला-सा लगा। यह 1937 की गर्मियों की बात है। पिता जी कुछ खीझे हुए नजर आये, मां मुझे घर के कभी एक कोने में तो कभी दूसरे कोने में ले जाती और मेरे कानो मे खुसफुस करतीं। घर में जो कुछ हो

रहा था उससे वह भी कम चिन्तित नहीं थीं। वह चाहती थीं कि मैं अपने भाई को समझाऊं कि थोड़ा संजीदगी के साथ रहे, और मां के शब्दों में, "वह दुनिया में पहला लड़का नहीं है जिसकी शादी हुई है।" बलराज और दम्मो—बलराज की पत्नी को प्यार से इसी नाम से पुकारा जाता था—अपने नये-नये तौर-तरीकों से, मां और बाप दोनों के लिए परेशानी का कारण बने हुए थे।

रावलपिण्डी एक छोटा-सा नगर था, एक ऐसा नगर जहां एक का मामला सभी का मामला बन जाता है। कोई छोटी से छोटी घटना भी घटती तो उसकी खबर पलक मारते सभी के कानों तक जा पहुंच जाती थी, और कुछ ही देर बाद हरेक की जबान पर होती थी। शहर पुरानी वजह का था, बेशक, पर उसके अपने रीति-रिवाज, नियम और परम्पराएं थी। सड़को पर कोई स्त्री अपने पति के साथ कदम मिला कर साथ-साथ नहीं चलती थी, वह उसके पीछे-पीछे, थोड़ा घूंघट काढ़े चलती थी। अगर कोई पति-पत्नी तांगे पर सवार होते तो पति आगे की सीट पर गाड़ीवान के साथ बैठता और पत्नी पीछे वाली सीट पर अलग बैठती थी। औरतें सड़क पर नंगे सिर नही चल सकती थी, या ठहाका मार कर हंस नहीं सकती थीं, या खुले आम घूम-फिर नही सकती थी। जाहिर है ऐसी स्थिति मे, शादी के फौरन ही बाद जब दमयन्ती बलराज की साइकिल के पीछे कैरियर पर बैठी नजर आयी तो शहर वालों ने दांतों तले उंगलियां दबा लीं। दमयन्ती ने शादी-ब्याह के सभी जेवर उतार दिये थे और बिल्कुल सीधे-सादे कपड़े पहने थी। हाथ मे एक चूड़ी तक न थी। और दोनो एक दिन साइकिल की सैर करते टोपी-पार्क की ओर निकल गये। घर-परिवार के प्रत्येक मित्र और संबंधी, जिस किसी ने उन्हें देखा वह धक्-सा देखता रह गया। उन्हें शादी के पहले दिन से ही दमयंती में नई-नवेली दुल्हन वाली कोई बात नज़र नही आयी। किसी-किसी दिन यह दम्पती शहर के बाहर खेतों में घूमते नजर आते। एक दिन दोपहर को दोनों, रावलपिण्डी से चकलाला की ओर जाती हुई मालगाड़ी के एक खुले डिब्बे मे खड़े थे। चकलाला, रावलपिण्डी शहर से लगभग दो मील की दूरी पर फौजी छावनी था। निस्संदेह, इस प्रकार बलराज के अनूठे व्यवहार के कारण मां और पिता जी दोनों विचलित हो उठे थे और उन्हें बड़ी झेंप होने लगी थी। बलराज और दम्मो एक-दूसरे मे इस तरह डूबे हुए थे कि उन्हें इस बात की सुध-बुध ही नही थी कि दुनिया क्या कहेगी। पर सच तो यह है कि उनके इस तरह के व्यवहार में कुछ भी अनूठा या विचित्र नहीं था। किसी दूसरे शहर के जीवन के परिप्रेक्ष्य में उनका व्यवहार साधारण और सामान्य ही जान पड़ता।

एक और कारण से भी पिता जी चिन्तित रहने लगे थे। व्यापार में बलराज

की रुचि उत्तरोत्तर ठण्डी पड़ती जा रही थी। यह कहना कि वक्ती तौर पर ही उनकी रुचि कम हो रही थी और शीघ्र ही बलराज अपने ढर्रे पर लौट आयेंगे और बाकायदा व्यापार करने लगेंगे, अपने को भुलावा देने वाली बात ही थी, इससे पिता जी आश्वस्त नहीं हो पाते थे। वह सिर हिला देते और कहते मुझे डर है कि बलराज व्यापार करना छोड़ देगा।

वास्तव में जिस दिन मैं लाहौर से लौटा, उस दिन बलराज रावलपिण्डी में नहीं थे। मुझे बताया गया कि वह किसी 'दाढ़ी वाले' दोस्त के साथ—जिसका नाम देवेन्द्र सत्यार्थी था—लोकगीत इकट्ठा करने, आस-पास के गांवों में गये हैं। मां ने साथ में इस बात की शिकायत भी की कि न जाने वह 'दाढ़ी वाला' और उसका परिवार और कितने दिन तक हमारे घर में डेरा डाले रहेंगे, महीना भर तो इन्हें रहते हो गया था।

कुछ दिन बाद दोनों घुमक्कड़ लौट आये, दोनों चहक रहे थे, दोनों के दिल में उत्साह ठाठें मार रहा था, क्योंकि वे ढेरों लोकगीत बटोर लाये थे। लोकगीतों के क्षेत्र में देवेन्द्र सत्यार्थी का पहले से ही अच्छा नाम था, और शीघ्र ही पंजाब के अतिरिक्त वह अन्य भाषायी प्रदेशों से लोकगीत इकट्ठा करने का बीड़ा उठाने वाले थे। बाद में पोठोहार के लोकगीतों का तत्कालीन संग्रह इस क्षेत्र में उनकी बड़ी मूल्यवान देन साबित हुआ। और बलराज बड़े उत्साह से इस काम में उनका हाथ बटाने लगे थे।

धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों वक्त गुजरता गया, बलराज के मन की बेचैनी बढ़ती गयी। बाहर से दिखने वाली उनके स्वभाव की लापरवाही और घुमक्कड़ी, वास्तव में उनके आंतरिक असंतोष को ही व्यक्त करती थी। वह उस जीवन-चर्या से संतुष्ट नहीं थे जिसे उन्होंने अपनाया था, और अब दिन-प्रतिदिन उनका असंतोष बढ़ता जा रहा था। इसी से यह बात भी समझ में आती है कि वह क्यों, अगले कुछ महीनों में तरह-तरह के कामों में हाथ डालने लगे थे। व्यवसाय से असंतुष्ट होकर, वह अपनी प्रतिभा और क्षमताओं की अभिव्यक्ति का कोई बेहतर साधन ढूंढ पाने के लिए छटपटाने लगे थे।

देवेन्द्र सत्यार्थी के साथ गांव का दौरा एक अभूतपूर्व और प्रेरणाप्रद अनुभव रहा था। अब तक बलराज की साहित्यिक दिलचस्पियां अंग्रेजी साहित्य तक ही सीमित रही थी, और वे भी पठन-पाठन तक। अब उन्हें अपने ही आस-पास सजीव संदर्भ मिल गया था, और जिस व्यक्ति के साथ वह इस दौरे पर निकले थे वह बड़ा समर्पित व्यक्ति था। और इस क्षेत्र में वह एक नया मार्ग प्रशस्त कर रहा था। इसके शीघ्र ही बाद, बलराज हिन्दी की ओर उन्मुख होने लगे।

किसी बड़े क्षेत्र में रहने की ललक, अपने दृष्टि-क्षेत्र और अनुभव-क्षेत्र को

विस्तृत कर पाने, देश-विदेश के जीवन से अधिक जानकारी प्राप्त कर पाने की ललक, यह उनके स्वभाव का एक नैसर्गिक गुण थी, और उनकी जिन्दगी मे यह ललक बार-बार कसमसाने लगती थी। उनका मानसिक और भावनात्मक गठन ही ऐसा था। पिता जी कभी-कभी सोचा करते कि बलराज स्वभाव से अस्थिर है, और वह किसी काम मे भी जम नही पायेगा। पर यह सही नही था। वास्तव में यह और अधिक विकास कर पाने की, ज्यादा भरपूर जिन्दगी जी पाने की, किसी बड़े क्षेत्र मे अपने को व्यक्त कर पाने की ललक थी जो उन्हें अशांत किये हुए थी, और उन्हे नये-नये तजरबे करने पर मजबूर कर रही थी।

1937 की गर्मियों के अंतिम दिनो मे, जब हमारा परिवार काश्मीर में था, बलराज ने सहसा अंग्रेजी भाषा में एक साहित्यिक पत्रिका निकालने का निश्चय कर लिया। स्व. दुर्गाप्रसाद धर, जो उन दिनों विद्यार्थियों की राजनैतिक सरगर्मियों में बड़े सक्रिय थे, उनके साथी और सहयोगी बन गये। दोनो इस काम में भी बड़े उत्साह से जुट गये। रसीद-बुकें छपवा ली गयीं और दोनो चंदा उगाहने और ग्राहक बनाने निकल पड़े। पत्रिका का नाम "कुग-पोश" रखा गया, जो काश्मीरी भाषा मे केसर को कहते हैं। लगभग उसी समय बलराज को प्रसिद्ध कश्मीरी कवि, मेहजूर के बारे में पता चला जो काश्मीर के ही दूर-पार के एक गांव मे पटवारी के पद पर नियुक्त थे। बलराज उनसे मिलने उनके गांव जा पहुंचे और वहा से कवि के अनेक सुदर गीत लिख लाये। कवि से उनके जीवन के बारे मे भी उन्हें बहुत-सी बातों का पता चला। (बरसों बाद जब बलराज फिल्मो मे प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे, उन्होने मेहजूर के जीवन पर एक पूरी फीचर-फिल्म बनाने के लिए कश्मीर सरकार से आग्रह किया। उन्ही की पहलकदमी और दृढ़ाग्रह के फलस्वरूप यह फिल्म तैयार हुई, जो कश्मीरी भाषा की पहली फीचर फिल्म थी इस फिल्म मे बलराज के सुपुत्र परीक्षित ने कवि की भूमिका में काम किया था, और स्वयं बलराज ने कवि के पिता का और किशोरी कौल ने गायिका की भूमिका अदा की थी। फिल्म का निर्देशन प्रभात मुखर्जी ने किया था।)

उस साल गर्मियों के मौसम में हमारे घर में तरह-तरह की घटनाएं घटीं। एक तो मेहमानो का तांता लगा रहा, जसवंत राय, बी. पी. एल. बेदी और उनकी पत्नी फ्रेडा, अपने नन्हे पुत्र के साथ, उन दिनों बेदी दम्पती, भारत के राजनैतिक जीवन मे, समाजवादी कार्यकर्ताओं के रूप मे पदार्पण कर रहे थे। उन्ही दिनों वे लाहौर मे समकालीन भारत "Contemporary India" नाम से अंग्रेजी भाषा मे एक त्रैमासिक पत्रिका भी निकाल रहे थे। वह एक साप्ताहिक पत्र भी निकालने की सोच रहे थे, जिसमें राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों

प्रकार के विषयों पर सामग्री जुटायी जा सके।

उन्हीं दिनों श्री भवनानी भी कश्मीर में पधारे, उनके साथ डेविड भी थे जो बाद में ख्याति प्राप्त सिने अभिनेता बने पर जो उन दिनों बड़े मनचले और उत्साही युवक थे। उत्सुकता और उत्साह उनमें फूट-फूट पड़ते थे। भवनानी उन दिनों 'हिमालय की बेटी' नाम से एक फिल्म बना रहे थे और उनमें उन्होंने बलराज को काम करने का न्योता दिया। पर उस समय बलराज का कोई इरादा फिल्मों में जाने का नहीं था। पर इस परिचय से डेविड और बलराज के बीच बड़ी स्नेहपूर्ण मैत्री का सूत्रपात हुआ।

उन्हीं दिनों बलराज ने श्रीनगर में एक अंग्रेजी नाटक खेलने का भी निश्चय किया। यह नाटक जेम्स फ्लैकर का 'हासन' नामक प्रसिद्ध नाटक था और इसमें उनके साथ दुर्गाप्रसाद धर, बामजई तथा अन्य उत्साही युवक थे। नाटक की प्रतियां टाईप करवायी गयी, और श्री प्रताप कालिज में रिहर्सलें शुरू हो गयी। उन दिनों लड़कियों का पार्ट लड़के खेला करते थे, और मुख्य अभिनेत्री की भूमिका में बामजई को चुना गया।

एक ही वक्त में ऐसे तरह-तरह के काम बलराज के बढ़ते हुए असंतोष और आंतरिक अशांति को ही प्रतिबिंबित करते थे। तरह-तरह के ऐसे सांस्कृतिक प्रयोग अपने दिल को ढांढस बधाने का एक प्रयास मात्र थे, कि मैं व्यापार करते हुए भी आत्माभिव्यक्ति का कोई संतोषजनक माध्यम खोज सकता हूं, बिजनेस करते हुए भी अपनी ललक पूरी कर सकता हूं। लगभग तीन साल तक वह व्यापार से जुड़े रहे थे, पिता जी की इच्छाओं को शिरोधार्य करते हुए, पर उनका दिल इस काम में नहीं था, और उनका असंतोष उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था।

तभी एक दिन बात नाके पर जा पहुंची और घर में एक संकट-सा उठ खड़ा हुआ। अगस्त महीने के अन्तिम दिन थे और हमारे घर से सभी मेहमान विदा हो चुके थे। सहसा बलराज ने घोषणा कर दी कि वह घर छोड़ कर जा रहे हैं, और बाहर कहीं अपनी किस्मत आजमाएंगे। पिता जी को पहले से इस बात का अंदेशा तो था, पर फिर भी इस घोषणा से उन्हें गहरा सदमा पहुंचा और वह मन ही मन बड़े व्याकुल हुए। बलराज के सामने कोई निश्चित लक्ष्य नहीं था कि वह कहां जायेंगे और क्या करेंगे। जब भी पिता जी उनसे पूछते कि तुम्हारा इरादा क्या है, तो बलराज का एक ही जवाब होता : "आप मुझे अपना आशीर्वाद देकर घर से विदा कर दें। मुझे कोई न कोई काम मिल ही जायेगा।" इससे अधिक वह कुछ नहीं कहते थे। वह कुछ कह भी नहीं सकते थे, क्योंकि वह स्वयं नहीं जानते थे कि क्या करेंगे। इसके बाद बहुत दिन तक घर में बहस होती रही और गहरा अवसाद छाया रहा।
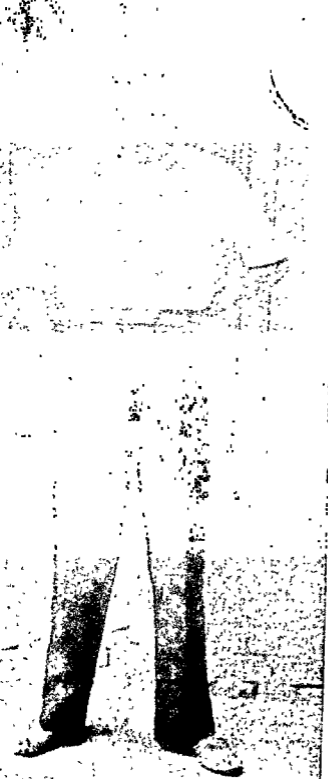
बलराज अपनी युवावस्था में

दमयंती शांतिनिकेतन की एक छात्रा के रूप में

बलराज अपनी पुत्रियों शबनम और सनोबर के साथ दार्जिलिंग में

पिता जी की चिन्ता अकारण नहीं थी। बलराज अपनी और पत्नी की जरूरतों को कैसे पूरा कर पायेंगे? पिता जी ने गरीबी देखी थी, और वह नहीं चाहते थे कि उनके बेटे को भी वैसी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़े, विशेष कर जब बलराज का ज़ेहन साफ नहीं था कि वह क्या करना चाहते है। यह एक तरह से अंधेरे मे कूद पड़ने वाली बात थी। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, पिता जी की चिन्ता बढ़ती गयी। किसी-किसी दिन पिता जी अपने बही-खाते निकाल कर बलराज को दिखाने लगते कि देखो हमें कितनी अच्छी आमदनी हो जाती है। कभी-कभी वह उस आजाद जिन्दगी की चर्चा करने लगते जो एक व्यापारी को प्राप्त होती है। "अपनी नींद सोवोगे, अपनी नींद जागोगे" वह एक पंजाबी कहावत को दोहराते हुए बार-बार कहते। कभी वह दमयंती से आग्रह करते कि वह अपने पति को समझाये कि इस फिजूल की भटकन में नहीं पड़े। पिता जी और बलराज के बीच ही नहीं, पिता जी और माता जी के बीच भी लंबी-लंबी बहसें चलती रहती। दोनों मे से मां की दृष्टि अधिक संभली हुई और संतुलित जान पड़ती थी। एक दिन, अपने अनूठे ढंग से मां बोली, "देखो जी, पक्षी के जब पंख निकल आते हैं तो क्या वह घोंसले में ही बना रहता है? वह तो फुर्र से उड़ जाता है। अपने लिए नया घोंसला बनाने के लिए उड़ जाता है। तुम्हें तो खुश होना चाहिए कि तुम्हारा बेटा अपने पांवों पर खड़ा होना चाहता है।" फिर एक दिन उन्होंने कहा, "एक ही व्यक्ति है जिससे बलराज को सलाह-मशविरा करना चाहिए, और वह है उसकी पत्नी। अपने भविष्य के बारे में इन दोनों को मिल कर फैसला करना चाहिए। हम कौन होते हैं बीच मे बोलने वाले?"

पर पिता जी ने एक नहीं सुनी और उत्तरोत्तर क्षुब्ध और बेचैन होते गये। एक बार, हम लोग बरामदे में बैठे थे जब पिता जी ने सिर पर से अपनी पगड़ी उतार ली और कहा, "इन सफेद बालों पर तो कुछ तरस खाओ। मैं अब जवान नहीं हूं। तुम्हारे मां-बाप अब बूढ़े हो चले हैं, हमारे प्रति भी तो तुम्हारा कोई फ़र्ज है?" पर बलराज फिर भी अपनी जिद्द पर अड़े रहे। इसका यह मतलब नहीं था कि बलराज को अपने माता-पिता तथा परिवार के सदस्यों से प्रेम नहीं था। उन्हें मां-बाप के साथ बेहद प्यार था और वह किसी तरह भी उनका दिल दुखाना नहीं चाहते थे। वह जानते थे कि घर छोड़ने पर उनके दिल को सदमा पहुंचेगा। पर उन्होंने मन मे तय कर लिया था कि अब घर से निकल जाना ही सही है। उन्हें रोकने की कोशिश करना बेसूद था। बिजनेस से उन्हें घिन हो गयी थी। उन्हें लगने लगा था कि वह बहुत दिन तक निठल्लों की-सी फिजूल जिन्दगी जीते रहे हैं और अब उन्हें जम कर कोई काम करना

चाहिए। और अपने लिए रास्ता खोजना चाहिए।

अपनी सभी कोशिशों के बावजूद जब पिता जी को कामयाबी नहीं मिली तो पिता जी चुप हो गये। उन्होंने जैसे हार मान ली, पर उनके हार मानने का ढंग भी निराला था और उनके चरित्र के अनुरूप ही था। जब उन्हें इस बात का यकीन हो गया कि बलराज अब टस से मस नहीं होगा तो वह बलराज को विदा करने की तैयारियों में लग गये। बड़ा हृदयस्पर्शी दृश्य था। बलराज के पास ढंग के कपड़े होने चाहिए, उसके जेब में पैसा होना चाहिए। मां ढेर सारी 'पिन्नियां' बनाने में लग गयी। पंजाबी घरों में यह प्रथा है कि जब भी बेटा लंबे सफर पर निकलता है तो मां साथ ले जाने के लिए उसे 'पिन्नियां'—एक तरह के लड्डू—बना कर देती है। पिता जी विभिन्न नगरों में अपने मित्रों को पत्र लिखने लगे कि अगर बलराज को किसी चीज की जरूरत पड़े तो आप उसकी पूरी-पूरी मदद करें। उन्होंने बलराज के लिए एक Letter of credit भी खोल दिया और जब रवानगी का दिन आया तो पिता जी ने एक विचित्र बात की, और वह भी उनके स्वभाव के अनुरूप ही थी। उन्होंने बलराज के हाथ में एक दर्जन के करीब पोस्टकार्ड रख दिये। उन सब पर पिता जी का अपना नाम और पता लिखे थे, और प्रत्येक पोस्टकार्ड पर निम्न पंक्तियां भी लिखी थीं:

> प्रिय पिता जी,
>
> भगवान की कृपा से हम दोनों कुशलपूर्वक हैं। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें।
>
> आपका बेटा

पोस्टकार्ड बलराज के हाथ में देते हुए, पिता जी बोले: "मैं जानता हूं, तू बड़ा सुस्त है। पर इतना काम तो कर ही सकता है कि हफ्ते में एक दिन एक पोस्टकार्ड पर दस्तखत करके इसे डाक में डाल दे। इससे हमें तसल्ली हो जायेगी कि तुम सही-सलामत हो। इससे अधिक मैं कुछ नहीं मांगता।"

अपनी रवानगी के एक दिन पहले, 20 सितंबर 1937 को बलराज ने मुझे व्यापार के कुछेक छोटे-मोटे उसूल समझाये, मुझे बताया कि F.O.R. क्या होता है, और C.I.F. and C.I. का क्या मतलब है, हुण्डियां कैसे छुड़ायी जाती हैं, दाम कैसे जोड़े जाते हैं, उन्होंने इण्डेण्ट और इनवॉयस और डेमरेज के नियम भी समझाये, और दूसरे दिन प्रातः दोनों पति-पत्नी, अपना भाग्य आजमाने निकल पड़े।

4. फिर से लाहौर में

बलराज का पहला पड़ाव लाहौर था। यहां बलराज ने अपनी जिन्दगी में पहली बार—और अंतिम बार—पत्रकारिता में हाथ डाला। श्रीनगर में हम उनकी ओर से किसी सूचना का बेताबी से इंतज़ार कर रहे थे। हमें इतना तो मालूम था कि बलराज और दम्मो श्रीनगर से सीधा लाहौर गये हैं पर वहां पर वे रुके हैं या नहीं, या क्या कर रहे हैं, इन बातों के बारे में हमें कुछ भी मालूम नहीं था। तभी एक दिन, लगभग महीने भर बाद, बड़े-बड़े, पीले रंग के इश्तहारों का एक बण्डल हमें मिला, जिन पर "मण्डे मॉर्निंग" नाम की एक साप्ताहिक पत्रिका की प्रकाशन-सूचना छपी थी। पत्रकारिता में अपने भाई के इस पहले, स्वतंत्र प्रयास पर मैं फूला नहीं समाया और इतना उत्साहित हुआ कि मैं वे इश्तहार अपने मुहल्ले के पेड़ों और दीवारों पर लगाता फिरा। सम्पादक मंडल में सर्वश्री बी. पी. एल. बेदी, फ्रेडा बेदी, बलराज और जगप्रवेश चन्द्र (जो बलराज के भूतपूर्व सहपाठी थे) के नाम थे। श्रीनगर से रवानगी के समय बलराज के सामने कोई स्पष्ट योजना नहीं थी। पर लाहौर में बेदी दम्पती से मिलने पर उस पहली योजना को फिर से बहाल किया गया और साप्ताहिक पत्रिका निकालने का निर्णय किया गया।

उन दिनों लाहौर से दो दैनिक पत्र निकला करते थे—'ट्रिब्यून' नाम का राष्ट्रीय विचारों वाला पत्र और दूसरा "सिविल ऐण्ड मिलिटरी गेज़ेट" जो ब्रिटिश सरकार और उसकी नीतियों का समर्थन करता था। पर सोमवार के दिन इन दोनों में से कोई भी नहीं छपता था। इसलिए यह सोच कर कि सोमवार के दिन साप्ताहिक पत्र निकालने से यह कमी दूर हो जायेगी और अखबार की बिक्री भी सुनिश्चित हो जायेगी उसे प्रातः सोमवार को निकालने का फैसला किया गया और उसका नाम भी 'मण्डे मॉर्निंग' रखा गया।

इतना समय बीत जाने पर उस दुःसाहसी प्रयास को याद करते हुए अचंभा

होता है, क्योंकि सम्पादक मंडल के पास न तो पैसा था और न ही साप्ताहिक पत्रिका निकालने की व्यावहारिक जानकारी ही थी। उनकी पूंजी केवल उनका उत्साह और यौवन-सुलभ ऊर्जा ही थी। योजना यह बनायी गयी कि पत्रिका में, खबरों के अलावा, सांस्कृतिक कार्यकलाप के विवरण, कहानियां और कविताएं होंगी और साथ ही समाजवादी विचारधारा और सिद्धांतों से संबंधित लेखादि होंगे।

हम लोग बड़ी उत्सुकता से पत्रिका के प्रवेशांक की राह देखने लगे, पर अंत में जब वह हमारे हाथ लगा तो उसे देख कर मेरा दिल बैठ गया। दो पन्नों की पत्रिका थी, जिसमें छपाई की अनगिनत गलतियां थीं। हम नहीं जानते थे कि लाहौर में इसका कैसा प्रभाव पड़ा होगा पर जाहिर था कि बड़ी घटिया किस्म की पत्रिका निकली थी, और इसका शुभारंभ ही बड़ा निराशाजनक था। हम यह सोच कर कि अंक जल्दबाजी में निकाला गया है, इसका मुख्य कारण सम्पादक मंडल की अनुभवहीनता ही रहा होगा, हम दूसरे अंक का इन्तजार करने लगे। हफ्ता भर बाद दूसरा अंक आया, और वह जहां तक छपाई की गलतियों का सवाल है, पहले से भी बुरा था और हमें लगने लगा कि बहुत दिन तक यह पर्चा नहीं चल पायेगा। दो-एक अंक आये, पर उनमें से कोई भी ऐसा नहीं था जिसमें किसी उज्ज्वल भविष्य की आशा बंधे, बल्कि उनसे तो यह उम्मीद भी नहीं बनती थी कि पर्चा जिन्दा रह सकेगा। पिता जी बहुत चाहते थे कि बलराज को उसके पहले प्रयास में कुछ सफलता जरूर मिले, नहीं तो उसका दिल टूट जायेगा। उन्हीं दिनों लाहौर से हमें एक सबंधी का पत्र आया जिसमें लिखा था कि वह किसी छापाखाने में बलराज से मिले थे, कि बलराज के मुंह पर जाने कितने दिन की दाढ़ी थी, और उन्हें तेज बुखार हो रहा था, और इस हालत में वह फर्श पर बैठे प्रूफ सही कर रहे थे। यह भी लिखा था कि बलराज बहुत थके-थके और कमजोर नजर आ रहे थे। पिता जी चिन्तित हो उठे और मुझे फौरन लाहौर जा कर दर्याफ्त करने का आदेश दिया कि जाकर देखो तुम्हारे भाई के साथ क्या बीत रही है। तभी बलराज का अपना पत्र आ गया कि मैंने पत्रिका को खैरबाद कह दिया है और उस काम में से निकल आया हूं, और इसका मुझे तनिक भी खेद नहीं है। हमने, इत्मीनान की सांस ली। पत्रिका निकालने का तजरुबा काफी महंगा पड़ा था, बलराज के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी और आर्थिक दृष्टि से भी। इसके अतिरिक्त, बलराज ने शीघ्र ही समझ लिया था कि इस तरह का काम उनके बस का नहीं है। इस अनुभव से वह उदास तो हुए; पर इससे उन्होंने बहुत कुछ सीखा भी।

लाहौर में अपने निवास के दिनों में ही बलराज हिन्दी में कहानियां लिखने

लगे थे। वह इस क्षेत्र से अपरिचित नहीं थे। उनके अनेक मित्र और हमारे अनेक संबंधी—श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, बुआ की बड़ी बेटी श्रीमती सत्यवती मल्लिक, बुआ की छोटी बेटी स्व. पुरुषार्थवती, जो अत्यंत सवेदनशील और प्रतिभासम्पन्न युवती थी, नियमित रूप से हिन्दी में लिखते रहे थे। बलराज ने अधिक नहीं लिखा, वह नियमित रूप से लिखते भी नहीं थे। पर उनकी कहानियों का प्रभाव अच्छा पड़ा था, और उनके प्रयासो को सराहा गया था। 'वापसी व वापसी' शीर्षक कहानी उन्होंने उन्हीं दिनों लिखी थी। यह कहानी एक काश्मीरी किसान के बारे में है, जिसे महाराजा के जन्म दिवस के अवसर पर श्रीनगर के जेलखाने में से रिहा किया जाता है। हरिपर्वत की पहाड़ी पर से—जहा पर यह पुराना जेलखाना स्थित है और जहा वह नजरबंद था—उतरते हुए वह देखता है कि श्रीनगर का शहर एक दुल्हन की तरह सजा हुआ है। और चारों ओर मेले का-सा समां है। इस दृश्य से प्रोत्साहित होकर वह भी भीड़ में शामिल हो जाता है और सड़कों पर अपने ढंग से महाराज का जन्म दिन मनाने लगता है। इसी मस्ती में वह आधी रात के वक्त अपने को संपन्न लोगो के एक मुहल्ले में पाता है। उस नये आत्मविश्वास के प्रभावाधीन जो उसमें जाग गया था और जिसने उसे और अधिक साहसी बना दिया था, वह सीधा एक घर में घुस जाता है। एक कमरे से दूसरे कमरे में जाता हुआ—घर के लोग मेला देखने गये हुए हैं—उसके हाथ में शराब की बोतल लग जाती है, और उसी मस्ती में वह उसे मुंह से लगा लेता है। देखते ही देखते वह नशे में गाने और नाचने लगता है और गली के चौकीदार की आवाजों की नकल उतारने लगता है, जो इस बीच ड्यूटी पर आ गया है। उस गरीब किसान को फिर से गिरफ्तार कर लिया जाता है, और दूसरे दिन पो फटने पर, वह फिर हरिपर्वत पर स्थित उसी जेलखाने मे पहुंच जाता है, जहां से उसे पिछली शाम रिहा किया गया था।

बलराज की कहानियों में बड़ी सजीवता थी, रचनात्मक ऊर्जा थी। वह नये-नये विषयों पर लिखने लगे थे जिनका संबंध मात्र निजी भावनाओं अथवा घरेलू स्थितियों से न होकर सामाजिक जीवन के अधिक व्यापक सदर्भ से था।

लाहौर मे ही वह फिर से नाटक-अभिनय में सक्रिय रूप से रुचि लेने लगे। उनके पुराने कालिज—गवर्नमेन्ट कालिज—की नाटक मण्डली 'ब्रिज आफ ब्रिजिज' नाम का एक नाटक खेलने की तैयारी कर रही थी। बलराज उसमे शामिल हो गये। नाटक का निर्देशन बलराज के भूतपूर्व प्राध्यापक हरीश कठपालिया कर रहे थे, और प्रमुख अभिनेत्री की भूमिका मे बलराज की पत्नी दमयंती, को चुना गया था।

पर बलराज लाहौर में ज्यादा दिन तक टिक नहीं पाये। उन्हें अभी इस बात का ठीक तरह से अंदाज भी नहीं हुआ था कि वह कहा पर हैं और क्या कर रहे है, कि एक दिन उन्होंने अपना बोरिया-बिस्तर बांधा और शांति निकेतन की राह ली।

यों, वे सीधा शांति निकेतन के लिए रवाना नहीं हुए थे। उनका लक्ष्य कलकत्ता था जहा उन दिनों बलराज के एक सहपाठी के बड़े भाई और हिन्दी के उत्साही लेखक सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन रह रहे थे। बलराज और दमयन्ती उनके पास जा पहुंचे और बलराज कलकत्ता में नौकरी की तलाश करने लगे।

कलकत्ता-निवास के दिनों मे साहित्य-रचना की दृष्टि से वह थोड़ा अधिक सक्रिय हुए। 'सचित्र भारत' नाम की एक सचित्र पत्रिका के लिए वह हास्य-व्यंग्य के लेख और कहानियां लिखने लगे, जहा से उन्हें प्रत्येक लेख के लिए चार रुपये पारिश्रमिक मिलने लगा। 'ढपोर शंख' नामक उनकी रोचक बाल-कथा उन्हीं दिनों लिखी गयी थी।

अब उन्हें जीवन की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। साहित्यिक काम से नाम मात्र की आमदनी होती थी। उधर दमयंती के बच्चा होने वाला था। इसलिए जब बलराज को पता चला कि शांति निकेतन मे चालीस रुपये माहवार पर एक हिन्दी के अध्यापक की जगह खाली है तो उन्होंने झट से अर्जी दे दी, और नौकरी मिलने पर दोनों पति-पत्नी शांति निकेतन जा पहुंचे। यह 1937 के जाड़ों की बात है। अपने को शांति निकेतन मे पाकर बलराज अत्यधिक प्रसन्न हुए। यह उनके लिए बिल्कुल ही अनूठा अनुभव था। उन दिनों कहा जाता था कि भारत की दो राजधानियां हैं, राजनीतिक राजधानी सेवाग्राम है जहां राष्ट्रपिता महात्मा गांधी रहते हैं और जो भारत के स्वतंत्रता-संग्राम का केन्द्र है और दूसरी, सांस्कृतिक राजधानी शांति निकेतन है, जहां गुरुदेव टैगोर निवास करते है। भारतीय जनता की महत्वाकांक्षाओं तथा उनके सांस्कृतिक और राजनीतिक नव-जागरण की लहरें उतने ही वेग के साथ शांति निकेतन में भी बहती थी, जितने वेग के साथ सेवाग्राम मे।

शांति निकेतन प्रकृति की गोद में बसी छोटी सी बस्ती थी, उसका वातावरण बड़ा सुखद, सुंदर और गीतात्मक था। चारों ओर संगीत व्याप रहा था। पहले ही दिन प्रभात वेला में बलराज की नींद प्रभात फेरी की मधुर स्वरलहरी को सुन कर टूटी। युवक-युवतियों की एक मण्डली उनकी कोठरी के सामने से गाती चली जा रही थी। बलराज पुलकित हो उठे और देर तक बाहर खड़े संगीत का रस लेते रहे। शांति निकेतन में पेड़ों के नीचे कक्षाएं लगतीं, निकट

ही गुरुदेव टैगोर का अपना निवास स्थान था, किसी पेड़ के नीचे बैठे आप किसी भी समय उन्हें अपने घर के बरामदे मे बैठा देख सकते थे। अपने गोरे रंग और सफेद दाढ़ी और लंबे चोगे और कांतिपूर्ण चेहरे के कारण वह बड़े प्रभावशाली लगते थे। शांति निकेतन में बलराज को बंगला संगीत सुनने का सुअवसर मिला। उन्होने वे सुदर गीत भी सुने जिन्हें स्वयं गुरुदेव ने स्वरबद्ध किया था। बलराज एक ऐसे माहौल मे रहने और सास लेने लगे थे, जैसा माहौल भारत मे और कही पर भी नही था। अभी तक वह ऐसे स्थानों मे रहते रहे थे जहा हर चीज पर अंग्रेजों की उपस्थिति का भास रहता था, जहां कला और ज्ञान पर पाश्चात्य संस्कृति की छाप थी। यही एक ऐसी जगह थी जिसकी विशिष्टता उसकी भारतीयता मे थी, जहां पाश्चात्य प्रभावो का बहिष्कार तो नही किया गया था, पर जहां वे छाये हुए भी नही थे, जहा कलाकार और चिन्तक अपनी जनता के जीवन के सान्निध्य में रह रहे थे। यह कोई दुनिया से दूर अलग-थलग आश्रम नही था, जैसा कि उन दिनो कुछ लोग कहा करते थे, जो जीवन की ऊहापोह और संघर्ष से कटा हुआ हो। यहां जन-जीवन की आकाक्षाओं की धड़कन बराबर सुनने मे आती थी। यहा केवल अपनी जमीन पर अपना सास्कृतिक विकास करने की उत्कट इच्छा पायी जाती थी। एक नये सास्कृतिक नव-जागरण का वातावरण था। यहां बलराज की भेट कलाकारो, विद्वानो तथा क्रातिकारियों से हुआ करती जिन्होंने अपने देश की स्वतंत्रता के लिए जीवन-दान दे रखा था। और सौभाग्यवश, उन्ही दिनों जब बलराज वहा पर थे, शाति निकेतन मे पहले गाधी जी और फिर पडित नेहरू पधारे। गुरुदेव टैगोर के अतिरिक्त वहां पर उन दिनों सुविख्यात विद्वान क्षिति मोहन सेन, जो मध्ययुगीन भक्ति साहित्य के विशेषज्ञ थे, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी के सुविख्यात विद्वान तथा लेखक, और नन्दलाल बोस, प्रसिद्ध चित्रकार जिनकी कला जन-साधारण के जीवन को व्यक्त करती थी, आदि रहते और काम करते थे। कहने की आवश्यकता नही कि बलराज के लिए यह बहुत ही प्रेरणाप्रद और उत्साह-जनक अनुभव था।

कुछ युवा जन उन दिनों टैगोर की कविता की खिल्ली उडाया करते थे, इसमें उन्हे अत्यधिक भावुकता और रहस्यवाद की बू आती थी, और जो शाति निकेतन को 'संस्कृति का सर्कस' की संज्ञा दिया करते थे। पर बलराज ने कभी भी अपनी आजाद ख्याली और आधुनिक विचारों के बावजूद, किसी विषय के प्रति नकारात्मक रवैया नही अपनाया था। वहां पर बहुत कुछ ऐसा था जिससे वह गहरे मे प्रभावित हुए थे, जिसने उनके अपने व्यक्तित्व को प्रभावित किया था, उनकी दृष्टि को प्रभावित किया था, चीजों को रोमांटिक रंग में देखना और

गौरवान्वित करना उनका स्वभाव नहीं था। वह गद्गद् होकर भावुक नहीं हो उठते थे।

दूर रावलपिण्डी में पिता जी अभी भी बलराज के बारे में उद्विग्न और चिन्तित रहते थे। अभी तक उन्हें ऐसा कोई संकेत नहीं मिला था कि बलराज कोई स्थायी व्यवसाय अपनायेंगे। शांति निकेतन के बारे में भी उन्होंने जो कुछ सुन रखा था, उससे उनकी चिन्ता बढ़ी ही थी, कम नहीं हुई थी।

एक बार एक सिख युवक हमारे घर पर पधारे। वह युवा कलाकार थे और शांति निकेतन में ही रहते और काम करते थे। वह छुट्टियों में कुछ दिन के लिए अपने वतन आये थे, और बलराज ने उनसे अनुरोध किया था कि लौटने से पहले हमारे परिवार से जरूर मिल कर आयें। वह बड़ा ही सरल स्वभाव, संवेदनशील और विनम्र युवक था। धीमी आवाज में बोलता, देर देर तक चुपचाप बैठा रहता। और जब बोलता भी तो बड़े दार्शनिक ढंग से। पिता जी ने छूटते ही उस पर सवालों की झड़ी लगा दी—बलराज कितना पैसा कमाता है, पति-पत्नी कैसे रहते हैं, शांति निकेतन में शुद्ध घी और दूध मिलते हैं या नहीं। युवक से जैसा बन पड़ा, पिता जी को आश्वस्त करने की कोशिश करता रहा। अन्त में पिता जी ने पूछा, "वहां पर धर्म नाम की कोई चीज भी है या नहीं ? लोग संध्योपासना करते हैं या नहीं ?"

पिता जी की नजर में, जाहिर है, स्थायी व्यवसाय सर्वोपरि था और उसके बाद भगवद् भजन को ही वह सबसे अधिक महत्व देते थे। यदि कोई व्यक्ति नियमित रूप से सध्योपासना करता है तो वह सदाचारी होगा, उसमें चरित्र की की दृढ़ता होगी। प्रश्न का उत्तर देते हुए युवक बोला, "शांति निकेतन में कोई मन्दिर-मस्जिद तो नहीं है, पर वहां पर भगवान का नाम जरूर है—लोगों की जबान पर भी और उनके दिलों में भी। "

इस उत्तर से पिता जी इतने प्रसन्न हुए कि शांति निकेतन के प्रति उनकी दृष्टि अधिक सद्भावनापूर्ण हो उठी और वह बहुत कुछ आश्वस्त हो गये।

कुछ महीने बाद बलराज और दमयन्ती कुछ देर के लिए रावलपिण्डी आये। दोनों सादा लिबास में खादी के कपड़े पहने हुए थे। बलराज का तो जैसे कायापलट हो गया था। उनका सिर लगभग घुटा हुआ था, ठुड्डी पर छोटी-सी दाढ़ी थी और बदन पर एक अजीब-सी पट्टू की वास्कट, जिसकी काट उन्होंने खुद ही ढूढ निकाली थी। पिता जी उन्हें देख कर खुश भी हुए और चिन्तित भी। खुश इसलिए कि उनका बेटा सादा जीवन और उच्च विचार के उनके आदर्श के अनुरूप रह रहा था, और चिन्तित इसलिए कि अभी तक उसकी गाड़ी पटरी पर नहीं बैठी थी।

शांति निकेतन में बलराज, अध्यापन के अलावा हिन्दी में कहानियां लिख रहे थे। अभी भी वह 'मचित्र भारत' में हास्य-व्यग्य के लेखादि भेज रहे थे। इनमें से एक लेख—'द्विवेदी जी हंम रहे हैं'—हजारी प्रसाद द्विवेदी पर लिखा एक रेखाचित्र बड़ा सुंदर और विनोदपूर्ण था। उनकी कहानिया 'ओवरकोट' और 'वसंत क्या कहेगा ?' भी उसी समय लिखी गयी थी। वह कलकत्ता में पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ हिन्दी लेखकों के एक सम्मेलन मे भी भाग लेने गये थे, जहां उनकी भेंट जैनेन्द्र कुमार तथा अनेक सुपरिचित हिन्दी लेखकों से हुई थी। सम्मेलन मे उन्होंने कुछ खरी-खरी बातें भी सुनायी थी, ऐसा सुनने में आया था, विशेष कर उन आडम्बरपूर्ण भाषा को लेकर जिसका प्रयोग उन दिनों कुछ हिन्दी लेखक करने लगे थे।

नाटकों के प्रति भी उनका मोह बराबर बना हुआ था। शांति निकेतन में ही उन्होंने बर्नार्ड शा का नाटक "Arms and the Man" प्रस्तुत किया, इसके निर्देशन मे उन्होंने बहुत-सी नई बातें सीखीं। विशेष रूप से प्रस्तुतिकरण के बहुत से नये तौर-तरीके जिन्हें बगाली नाट्यकर्मी बड़े मौलिक ढग से प्रयोग मे लाते थे।

बाद मे, अपने शांति निकेतन-निवास की चर्चा करते हुए, बलराज अक्सर उस वार्तालाप का जिक्र किया करते जो एक बार गुरुदेव टैगोर के साथ उनका हुआ था। उन्होंने गुरुदेव से पूछा था कि लेखक को रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए किस भाषा को अपनाना चाहिए। बलराज उन दिनों हिन्दी मे लिख रहे थे, और गाहे-बगाहे अंग्रेजी में कविता भी करते थे या अंग्रेजी मे किसी कविता का अनुवाद कर डालते थे— उन्होंने पंजाबी पद्य में अनुवाद किया था जो शांति निकेतन की पत्रिका "विश्वभारती" मे प्रकाशित भी हुई थी—पर इस सवाल पर उनका नजरिया पूर्णत: स्पष्ट नही था, वह अभी भी समझते थे कि भले ही कोई लेखक अपना रचनात्मक कार्य अपनी मातृभाषा मे करे, या किसी अन्य भाषा में जिसे अपना लिया हो, (वह अंग्रेजी हो या हिन्दी) तो कोई विशेष अंतर नही पड़ता। इस विषय पर टैगोर के विचार बड़े स्पष्ट और दो-टूक थे। बलराज ने उन्हें बताया कि वह स्वयं हिन्दी मे लिखते हैं, हालांकि उनकी मातृभाषा पंजाबी है। वह हिन्दी में इसलिए लिखते हैं कि हिन्दी सामान्य जनता की भाषा है राष्ट्रीय भाषाओं में से एक महत्वपूर्ण भाषा है तो टैगोर का उत्तर था, "मातृभाषा का स्थान कोई भी भाषा नही ले सकती।"

और उन्होंने बलराज से कहा कि वह स्वयं अपनी अनेक कविताओं का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में करते है पर मूल रूप में कभी कोई कविता अंग्रेजी मे नहीं लिखते। उन्होंने गुरु नानक की एक साखी सुनायी और कहने लगे कि इसे

किसी भी अन्य भाषा में कह पाना लगभग असंभव होगा।

गुरुदेव का यह वाक्य बलराज के स्मृति-पटल पर सदा अंकित हो गया। बरसों बाद जब बलराज बड़े उत्साह के साथ पंजाबी भाषा की ओर उन्मुख हुए तो, वह गुरुदेव के इस वाक्य को बड़ी कृतज्ञता के साथ याद किया करते थे।

शांति निकेतन में जिन्दगी के दिन ठीक से बीत रहे थे। दमयंती ने बी. ए. की परीक्षा के लिए वहीं पर पढ़ाई की। उन्हीं दिनों वह मां भी बनने वाली थी। उधर बलराज की बंगला में दिलचस्पी बढ़ने लगी और उसमें उन्होंने पर्याप्त उन्नति भी की।

पर फिर, एक और छोटी-सी घटना घटी, जिसने उनकी जिन्दगी का रुख फिर से मोड़ दिया। उन दिनों गांधी जी के आशीर्वाद से डा. जाकिर हुसैन द्वारा प्रस्तावित नई तालीम योजना को कार्य रूप दिया जाने लगा था। इस शिक्षा : योजना का सदरमुकाम सेवाग्राम बनाया गया था। उन्हीं दिनों कलकत्ता में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का एक अधिवेशन हुआ और इस मौके पर, शांति निकेतन द्वारा आयोजित प्रदर्शनी के एक मंडप में बलराज को सहायक के रूप में भेजा गया। वहां सहसा एक दिन उनके सामने प्रस्ताव रखा गया कि क्या वह नई तालीम की पत्रिका में सह-संपादक के रूप में काम करना चाहेंगे। पत्रिका सेवाग्राम से प्रकाशित की जा रही थी। बलराज ने तत्काल अपनी स्वीकृति दे दी और शांति निकेतन लौटने के कुछ ही देर बाद बलराज और दमयंती ने फिर से बोरिया-बिस्तर बांधा और शांति निकेतन को खैरबाद कह कर सेवाग्राम की ओर रवाना हो गये। सेवाग्राम में गांधी जी का निवास था, और नये-नये अनुभव ग्रहण करने की असीमित संभावनाएं थी...।

आख मूद कर उनका अनुमरण करते थे। न ही वह गांधी जी के कटु आलोचको मे से थे, जैसे कटु आलोचक उन दिनो नौजवानो मे काफी सख्या मे पाये जाते थे। फिर भी गाधी जी के प्रति उनके दिल में असीम श्रद्धा और स्नेह पाया जाता था। बलराज अभी भी राजनीतिक मान्यताओ की सीमा रेखा पर डोल रहे थे और स्वतन्त्रता-सघर्ष की प्रबल धारा मे उतरे नही थे। हमारे देश के भविष्य को रूप देने वाले तत्वो के प्रति तो वह निश्चय ही आकृष्ट हो रहे थे, परन्तु अपनी सरगर्मियो के लिए वह कला और संस्कृति को ही अपना प्रमुख क्षेत्र मानते थे, और अभी तक उन्हें इस बात का केवल धूमिल-सा ही आभास मिल पाया था कि दोनो क्षेत्र एक दूसरे से बहुत गहरे में जुड़े हुए है।

बलराज के पत्रों मे नये-नये नाम पढ़ने को मिलने लगे— डा० जाकिर हुसैन जिन्होने वर्धा शिक्षा योजना को तैयार करने मे अग्रिम भूमिका निभायी थी, श्री आर्यनायकम्, जो इसे कार्यरूप दे रहे थे और 'नई तालीम' नामक उस पत्रिका के सम्पादक थे जिसमे काम करने के लिए बलराज वर्धा मे गये थे। अपने पत्रो मे वह यह भी लिखते थे कि सेवाग्राम, वर्धा से पांच मील की दूरी पर एक धूल भरे सपाट मैदान में स्थित है, कि गाधी जी को कला और साहित्य में तनिक भी रुचि नही, कि कस्तूरबा हू-ब-हू हमारी माता जी जैसी हैं, कि सेवाग्राम और आसपास के इलाके मे नारगियो की भरमार है, जहा उन्होंने सतरो के 'टोले' देखे है, कि सेवाग्राम मे बिजली नही है, लोग हरीकेन लैम्पो अथवा मिट्टी के दियो का प्रयोग करते है, कि हर रोज कोई न कोई राष्ट्रीय स्तर का नेता सेवाग्राम में आया रहता है, और साधारण व्यक्तियों की भांति इधर उधर घूमता फिरता है, आदि-आदि।

जब से बलराज घर छोड कर गये थे, पिता जी गाहे-गाहे मुझे उनके पास भेजते रहे थे कि जाओ अपनी तसल्ली कर आओ कि उनका काम-काज ठीक चल रहा है या नही, और साथ ही इस बात की कोशिश भी करना कि वह घर लौट आये और चुपचाप, आराम से बैठ कर व्यापार करे, कि इस भटकन में क्या रखा है? आदि-आदि। ऐसे नीमजासूसी काम मुझे खूब मुआफिक बैठते थे। बलराज के साथ छुट्टी बिताने का मुझे बढ़िया मौका मिल जाता था। बलराज के पास पहुंचते ही मैं पिता जी का सदेश सुना देता, अपनी अंतरात्मा की तुष्टि के लिए आवश्यक प्रश्न भी पूछ लेता कि तुम्हारा काम-काज कैसे चल रहा है, तुम फिर से व्यापार क्यो नही करने लगते ताकि सुख-चैन की जिन्दगी बिता सको, और फिर मेरी छुट्टी शुरू हो जाती, हम लोग लबे-लबे सैर पर निकल जाते, गप्पें चलती, अनुभवों की चर्चा होती, विचारों का

आदान-प्रदान होता। ज्यो-ज्यो वक्त गुजरता गया, व्यापार के लिए पिता जी का आग्रह कम होता गया, पर बलराज के दिशाहीन जीवन के प्रति उनकी चिन्ता बराबर बनी रहती। इस तरह ऐसे ही एक मिशन पर मैं एक दिन सेवाग्राम में जा पहुंचा था। यह 1938 के जाडो की बात है।

रात देर गये रेलगाडी एक छोटे से स्टेशन पर रुकी थी। घुप्प अंधेरा था, हाथ को हाथ नहीं सूझता था, प्लेटफार्म पर केवल एक हरीकेन लैम्प किसी के हाथ में झूल रहा था। हरीकेन लैम्प उठाये कभी वह आगे की ओर बढ जाता, कभी पीछे लौट आता। वह बलराज ही थे, मुझे खोज रहे थे, एक-एक डिब्बे में लैम्प उठाये झांक रहे थे।

हम दोनों तांगे में बैठे थे। तांगा दूर-दूर तक फैले किसी सपाट मैदान में कच्ची सड़क पर चला जा रहा था। हम दोनो टागे ऊची किये सीट पर पालथी मार कर बैठ गये थे। बलराज ने बीडी सुलगा ली थी।

"तुम बीडी कब से पीने लगे हो?" मैंने पूछा।

"यहां सभी बीड़ी पीते हैं।"

"क्या तुम गांधी जी से रोज मिलते हो?"

"नही, केवल कभी-कभी। उनकी कुटिया आश्रम मे है। हम लोग आश्रम के बाहर रहते हैं।" फिर बलराज कहने लगे, "इन दिनो राजेन बाबू यहां पर है। तुम उन्हें देखोगे। कुछ दिन पहले राजाजी यहा आये थे। तुम जानते हो, गांधी जी वक्त के इतने पाबद है कि राजाजी को उन्होंने पांच मिनट से ज्यादा का समय नही दिया। राजा जी को घडी दिखा दी और मुलाकात खत्म हो गयी।"

बलराज की आवाज मे गहरी भावना की अनुगूज सुनायी दे रही थी।

तांगा छाजन वाले झोपडो के एक समूह के सामने खड़ा हो गया। मैं समझ नही पा रहा था कि कहा पहुंच गया हूं, जब दम्मो अंधेरे में भागती हुई चली आयी, और मुझे बाहों में भर लिया, अंधेरे में उसकी टुनटुनाती हंसी गूंज गयी।

"श···श···दम्मो, लोग सो रहे हैं।"

बाईं ओर एक झोपड़े मे बत्ती जल रही थी।

"वह हमारा कार्यालय है।" बलराज ने कहा, "श्री आर्यनायकम् अभी तक काम कर रहे हैं। वह रात देर गये तक काम करते रहते हैं।"

बलराज मुझे बताते हैं कि श्री आर्यनायकम् ने इंगलैंड मे उच्च शिक्षा ग्रहण की थी और भारत लौटने पर वह सीधे गांधी जी के पास चले आये थे और अब बहुत ही मामूली वेतन पर देश का काम कर रहे थे।

हरीकेन लैम्प हाथ में लिए, हम लोग एक बरामदे में आगे बढ रहे हैं,

बरामदे का फर्श कच्चा है और मिट्टी से पुता हुआ है। एक के साथ एक जुड़ी अनेक कोठरियां हैं, जो बरामदे में खुलती हैं। इन्हीं में से एक कोठरी में बलराज और दम्मो रहते हैं। मेरा सामान कोठरी में रख दिया जाता है और अब हम रसोईघर की ओर बढ़ रहे हैं जो बरामदे के एक सिरे पर बना है। वह केवल नाम का ही रसोईघर है, न उसके दरवाजा है, और न ही रसोईघर का कोई और साज-सामान। एक के ऊपर एक कुछेक डिब्बे जोड़ दिये गये हैं जिन पर थोड़े से बर्तन रखे हैं।

दम्मो एक थाली में उबले हुए चावल डाल देती है और उस पर दाल उड़ेल देती है।

"यहां पर मास-मछली कोई नहीं खाता।" वह कहती है, "और सुनो, यहां केवल एक हाथ से लोग भोजन करते हैं, पंजाबियों की तरह दोनों हाथों से रोटियां नहीं तोड़ते।" फिर बाहर अंधेरे में झांकती हुई कहती है, "वहां बाहर, मैदान में एक हमाम रखा है। हम सब वहीं पर अपने बर्तन धोते हैं। खाना खा चुकने पर सब लोग अपनी-अपनी थाली वहां ले जाते हैं, और धो कर उसे वापिस रसोईघर में रख देते हैं। आज तो मैं तुम्हारी थाली धो दूंगी पर कल से यह काम तुम खुद ही करोगे। यही यहां का नियम है। यहां नौकर नहीं हैं।"

"इसे पहले खा तो लेने दो, दम्मो। तुम जानती तो हो, मेरा भाई किस मिजाज का आदमी है, वह कुछ खाने से पहले ही अपनी थाली धोने लगेगा।"

खाना खा चुकने पर, हम तीनों हमाम के पास बैठे हैं, और फुसफुसाते हुए बतिया रहे हैं। ऊपर आकाश का असीम विस्तार है, और उसमें असंख्य तारे झिलमिला रहे हैं।

"आज तो तुम केवल अपनी थाली धो रहे हो, कल से तुम्हें अपना कमोड भी साफ करना पड़ेगा। यहां भंगी-जमादार नहीं हैं, न ही जंजीर खींचने वाले शौचालय हैं।" दम्मो हंसकर कहती है।

और बलराज मुझे एक 'स्वयंसेवी' शौचालय के बारे में बताने लगते हैं जिसका खाका स्वयं गांधी जी ने तैयार किया है।

"क्या तुम गांधी जी को हर दिन नहीं मिलते हो?" मैं फिर से पूछता हूं।

"नहीं, केवल कभी-कभी जब हम उनकी प्रार्थना-सभा में जाते हैं या कभी अपने काम के बारे में उनसे कुछ पूछना होता है।"

"प्रार्थना-सभा में रोज क्यों नहीं जाते। क्या प्रार्थना-सभा में जाना लाजमी नहीं है?"

"नहीं, लाजमी नहीं है। केवल आश्रम के अंदर रहने वाले लोगों के लिए लाजमी है। केवल उन्हीं से अपेक्षा की जाती है कि वे नियमित रूप से प्रार्थना-

सभा में जायेंगे।"

"दोनों में क्या अंतर है ?"

"आश्रम के अदर रहने वाले लोगों को अधिक कड़े नियमों का पालन करना पड़ता है।" दम्मो कहती हैं।

"उन्हें ब्रह्मचर्य का पालन भी करना पड़ता है," बलराज हंस कर कहते हैं।

सहसा एक अजीब-सी आवाज सुनाई देती है, मानो दूर कहीं, कोई घड़ियाल बजा रहा हो।

"यह आवाज क्या है ? क्या तुमने सुनी ?" मैं पूछता हूं।

"यह एक जापानी भिक्षु हैं, जो गॉंग बजा रहा है।"

और मुझे हैरान-सा देख कर बलराज कहते है, "एक जापानी भिक्षु हाल ही में यहां आये हैं। प्रतिदिन वह गांधी जी की कुटिया की लंबी-चौड़ी परिक्रमा करते हैं, समझो आठ मील का दायरा बनता है। इस समय वह यही परिक्रमा कर रहे हैं। शाम तक परिक्रमा के जितने भी चक्कर काट सकते हैं, काट चुकने पर, वह गांधी जी की कुटिया के बाहर पहुंचेंगे, ऐन प्रार्थना के समय। फिर वह गांधी जी को साष्टांग प्रणाम करते हैं। कभी-कभी वह रात के वक्त भी परिक्रमा करते रहते हैं।"

रात के सन्नाटे मे, चारो ओर दूर-दूर तक फैले विस्तार मे, घंटे की आवाज कभी दबी-दबी-सी तो कभी साफ सुनायी दे जाती है।

"मैंने एक और कहानी लिखी है," बलराज चहक कर कहते हैं।

"शीर्षक क्या है ?"

"बी-गुदगुदी। मैं तुम्हें कल पढ़ कर सुनाऊंगा। अपनी राय देना।" वह कहते हैं, "क्या तुमने बच्चन का 'निशा-निमंत्रण' कविता-संग्रह पढा है ?"

"नहीं, मैंने उसके बारे में केवल सुना है।"

"मेरे पास रखा है। उसमें कुछेक तुम्हें गीत बहुत अच्छे लगेंगे।"

रात को सोने से पहले, हम प्रोग्राम बनाते हैं कि दूसरे दिन प्रातः जब गांधी जी घूमने निकलेंगे तो हम भी उनके साथ हो लेंगे। "कोई भी उनके साथ जा सकता है। मैं उनसे तुम्हारा परिचय कराऊंगा।" बलराज हंस कर कहते हैं, "गांधी जी के साथ हर रोज एक काला-कलूटा आदमी रहता है, वह कोई आश्रमवासी है। उससे बड़ी कसैली बू आती है। जब भी वह देखता है कि कोई व्यक्ति गांधी जी के साथ बहुत देर से बतिया रहा है और उनके पास से हटने का नाम नहीं ले रहा तो वह चुपचाप आगे बढ़ कर उसके साथ-साथ चलने लगता है। बस, पलक मारते ही वह आदमी इस आदमी की गंध से परेशान होकर पीछे हट जाता है। इण्टरव्यू जल्दी समाप्त करने का गांधी जी

का यह अहिंसात्मक तरीका है।"

"गांधी जी को उससे बू नहीं आती ?"

"गांधी जी को किसी चीज से बू नहीं आती, न बू न खुशबू।"

"इनकी बात नहीं सुनना।" बीच में दम्मो चहक कर कहती है, "यह तरह-तरह की कहानियां गढ़ते रहते हैं।"

"कल मैं तुम्हें शाम की प्रार्थना-सभा में ले चलूंगा। सुबह की प्रार्थना प्रातः चार बजे होती है। उस पर पहुंचने का तो सवाल ही नहीं उठता। शाम की प्रार्थना-सभा में लोगों का जमाव भी ज्यादा होता है। तुम वहां कस्तूरबा जी को भी देखोगे। हमारी माता जी का दूसरा रूप हैं, उन्हीं की तरह अपने छोटे-छोटे हाथ गोद में रखे, पालथी मार कर बैठी रहती हैं। और माता जी की ही तरह, प्रार्थना के समय बार-बार आखें खोलती रहती हैं।"

और गांधी जी की आलोचना भी करती रहती हैं, "दम्मो जोड़ती हैं।" मैं उनसे मिली तो मैंने कहा कि आप मुझे भी आश्रम में रख लें तो बोली, 'नहीं, नहीं। जहां बैठी हो वहीं बैठी रहो, अपने पति के साथ। बापू मान भी जायें, तो भी मैं नहीं मानूंगी।"

प्रभात-वेला, पौ फट रही है। मैं बरामदे में दम साधे इस इंतजार में खड़ा हूं कि कब गांधी जी घूमने निकलेंगे। बलराज लंबी ताने अभी भी सोये पड़े हैं। वह सुबह जल्दी कभी उठ ही नहीं सकते। हवा में खुनकी है। बायीं ओर, थोड़ी दूरी पर सेवाग्राम की छोटी-सी बस्ती है, ढालवां, फूस की छत वाले झोपड़ों का एक समूह-सा। दूर-दूर तक फैला धरती का प्रसार धुला-धुला लग रहा है। कहीं-कहीं पर इक्का-दुक्का ताड़ और खजूर के वृक्ष खड़े हैं। जिस धूल भरी तंग सड़क पर कल रात में वर्षा से तांगे पर आया था, वह इस समय सेवाग्राम की बस्ती और दूर छोटी-छोटी पहाड़ियों के बीच लहराती, बलखाती, सफेद फीते की तरह बिछी है। खेतों को एक दूसरे से अलग करने वाली विभाजन-रेखाएं, बड़ी सफाई से डाली गयी हैं, लगता है कोई सरकारी फार्म हो।

यहां सुबह-सुबह गर्म प्याला चाय का मिले, इसका सवाल ही नहीं उठता। चाय की यहां कोई दुकान नहीं है। सुबह के वक्त कोई यहां अखबार भी नहीं पढ़ता। क्योंकि अखबार यहां पहुंचते ही दोपहर को हैं। यहां पर मैंने कुर्सियां और बेंच भी कहीं नहीं देखे। यहां लगभग सारा काम जमीन पर चटाइयां बिछा कर किया जाता है। बलराज मुझे बताते हैं कि यहां पर आश्रम के अंदर कोई बीड़ी-सिगरेट नहीं पीता, कुछेक अपवादों को छोड़ कर, जैसे मौलाना आजाद अथवा पण्डित नेहरू। जगह बड़ी खाली-खाली और रूखी-सी लगती है। कहीं पर फूलों की क्यारियां तक देखने को नहीं मिलीं।

वह लो, गाधी जी आ गये। मैं सिर से पांव तक पुलकित हो उठता हूं। हाथ में पतली-सी लाठी उठाये हैं, और कमर से उनकी प्रसिद्ध घड़ी लटक रही है, दुबले-पतले से गाधी जी, देखने में हूबहू उन चित्रों से मिलते हैं, जिन्हें देखने का मैं अभ्यस्त हो चुका हूं। मैं मन ही मन खीझ रहा हूं कि बलराज अभी तक नही जागे और मुझमे इतनी हिम्मत नहीं कि अपने आप आगे बढ़ कर उस छोटी-सी मडली मे शामिल हो जाऊं, जो गांधी जी के साथ धीरे-धीरे सड़क पर आगे बढती जा रही है।

मण्डली दूर निकल गयी है, तभी बलराज हड़बड़ाये हुए आंखे मलते बरामदे में आये हैं, "मुझे जगाया क्यों नहीं ?" वह कहते है, फिर दूर नजर दौड़ा कर, बोले, "अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। हम उन्हें लौटते वक्त मिल सकते हैं। उस टीले के पास एक झोपड़े मे तपेदिक का एक रोगी रहता है। गाधी जी रोज सुबह कुछ देर के लिए उसके पास कुशल-क्षेम पूछने जाते हैं।"

हम दोनों निकल पड़ते हैं। अभी मंडली लौट नही पायी कि हम उससे जा मिलते हैं। तपेदिक का मरीज़ बड़े आराम से गांधी जी के साथ बतिया रहा है। कांग्रेस का कोई साधारण कार्यकर्ता जान पड़ता है। मैं कान लगा कर सुनना चाहता हूं कि गांधी जी क्या कह रहे हैं। पर दोनो गुजराती भाषा मे बोल रहे हैं, जिस कारण मेरे पल्ले कुछ भी नही पड रहा है।

वार्तालाप समाप्त हो गया है और मडली अब लौटने लगी है। बलराज आगे बढ़ कर गांधी जी से कहते है, "यह मेरा भाई है, बापू। कल रात रावलपिण्डी से आया है।"

गांधी जी मेरी ओर देख कर मुस्कराते हैं, और मैं देखता हू कि उनके चश्मों के पीछे गांधी जी की आंखों मे हल्की-सी नीली झांव पड़ती है।

"इसे भी साथ घसीट लाये।" गांधी जी कहते हैं और हंसने लगते हैं।

"नही बापू, यह केवल कुछ दिन के लिए मेरे पास आया है।"

"मैंने सोचा तुम इसे भी खीच लाये हो और यह भी यहा काम करेगा।"

और गांधी जी फिर हंसने लगते हैं।

बलराज उस धूल भरी सड़क के किनारे-किनारे चल रहे हैं, उन्होने खाकी निक्कर और गाढे की कमीज पहन रखी है। मैं गांधी जी के साथ-साथ चल रहा हूं। मैं उनके कंधे से अपना कंधा सटाये चलते हुए देखता हूं कि गांधी जी कद के बहुत छोटे हैं। उनके धूल भरे पैरों और चप्पलों पर भी मेरी नज़र पड़ती है।

गांधी जी से क्या कहूं, मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है, अंत में मैं उन्हें उस दौरे की याद दिलाता हूं जब वह, बरसो पहले कोहाट में हुए साम्प्रदायिक दंगों के

बाद हमारे शहर रावलपिण्डी में आये थे । गाधी जी की आंखों में चमक-सी आ जाती है ।

"उन दिनों मैं कितना ज्यादा काम कर सकता था । मैं कभी थकता ही नही था ।"

लगता है गांधी जी की आंखों के सामने एक के बाद एक दृश्य उभरने लगा है, यादों का तांता-सा लग गया है, रावलपिण्डी का कपनी बाग उन्हें खूब अच्छी तरह याद है जहा उन्होंने सार्वजनिक सभा में भाषण दिया था, उन्हें बाग के सामने वाला वह घर भी याद है जिसमें उन्हे ठहराया गया था । उन्हे कुछेक लोगो के नाम भी याद हैं, जिनमे एक नाम श्री जान का है, यह सज्जन वकील थे, और गांधी जी उनके बारे मे पूछते हैं, हालांकि गाधी जी को उन दौरे पर गये, कम से कम अठारह साल बीत चुके हैं ।

सहसा पीछे से एक गहरी, ऊंची आवाज आती है । कोई आदमी कह रहा है : "शायद यह कोहाट से लौटते समय का ही सफर रहा होगा । जिस मोटर-गाड़ी मे हम लोग सफर कर रहे थे, उसका दरवाजा झट से खुल गया था, और गांधी जी बाहर गिर पड़े थे ।"

मैं पीछे मुड़ कर देखता हूं । वह आवाज गाधी जी के सेक्रेटरी, श्री महादेव देसाई की है, भारी-भरकम, ऊंचे कद के महादेव देसाई, हाथ मे एक मोटा-सा लट्ठ उठाये साथ-साथ चले आ रहे हैं ।

शीघ्र ही गाधी जी, महादेव देसाई से बातें करने लगते हैं और मैं पीछे हट जाता हूं...

बाद दोपहर का समय है । बलराज की कोठरी के सामने, गांव का एक लड़का सड़क के किनारे बैठा हाय-हाय किये जा रहा है । उसका दम फूल रहा है, और पीला चेहरा पसीने से तर है । वह बार-बार सिर झटकता है और कहता है कि बापू को बुलाओ, मैं बहुत बीमार हूं । उसके आसपास कुछेक लोग खड़े है और वे उसे समझाते हैं कि बापू इस समय बहुत व्यस्त हैं, उन्हे इस समय परेशान नही किया जा सकता । एक जरूरी मीटिंग चल रही है । लड़का बार-बार उठने की कोशिश करता है, और बापू की कुटिया की ओर कुछेक कदम उठाता भी है, पर फिर सिर थाम कर बैठ जाता है ।

सहसा मैं देखता हूं, गांधी जी खेत पार करते हुए हमारी ओर चले आ रहे हैं । खेती की ऊबड़-खाबड़ जमीन पर उनके लिए चलना मुश्किल हो रहा है । कड़ी धूप से बचने के लिए उन्होंने सफेद रंग के गाढे के कपड़े से अपना सिर ढंक रखा है, उनके हाथ मे पतली-सी लाठी है, जिसे वह सदा अपने साथ लिये रहते हैं । मुझे देखकर अचम्भा होता है कि गांधी जी मीटिंग छोड़ कर गांव-

गंवई के इस रुग्ण युवक को देखने कैसे चले आये हैं।

"तुम्हें क्या हो गया है ?" गांधी जी पास आकर पूछते हैं। लड़का जोर-जोर से सिर झटकने और हांपने लगता है : "बापू, मैं मर रहा हूं।"

गांधी जी कुछ देर तक ध्यान से उसे देखते रहते हैं, उसके शरीर को टोह-टोह कर देखते हैं, अपना हाथ लड़के के पेट पर रखते हैं, और फिर हंस कर कहते हैं, "अपनी दो उंगली मुंह में डाल कर जीभ को दबाओ, और कै कर दो। लगता है तू बहुत ज्यादा ईख का रस पी गया है।"

लड़का वैसे ही करता है, उसे जोर की उल्टी आती है, और कै हो जाने के बाद वह जमीन पर लेट जाता है, उसे थोड़ा आराम मिलता है। गांधी जी दो-एक मिनट तक वहां खड़े रहते हैं, "तू तो पागल है," यह कहते हैं और हंस कर अपनी कुटिया की ओर घूम जाते हैं।

ऐसी है यह जगह और ऐसा इसका माहौल जहां बलराज आकर काम करने लगे हैं। इसे देख कर ऐसा कुछ नहीं लगता कि यह हमारे स्वतंत्रता संग्राम का सदर मुकाम है, उसका धड़कता दिल है। यह तो इतनी चुपचाप, नीरस और निःस्पंद-सी जगह है।

"क्या तुम सियासी काम करोगे ?" मैं बलराज से पूछता हूं। हम लोग उनकी कोठरी के सामने घास पर बैठे बतिया रहे हैं।

"नहीं, मैं नहीं समझता कि मैं कभी सियासी काम करूंगा। मैं केवल सांस्कृतिक काम करूंगा, मैं लेखक बनना चाहता हूं।"

"यदि ऐसा था तो सेवाग्राम में आने में क्या तुक थी ? तुम शांति निकेतन में ही बने रहते।"

"मैं नहीं जानता...लेखक बनने के लिए शांति निकेतन में रहना कोई जरूरी तो नहीं है...मैं सेवाग्राम आने का लोभ कैसे संवरण कर सकता था। इतना अच्छा मौका था, मैं इसे कैसे छोड़ देता ? पर राजनीतिक काम में मेरा मन नहीं है।"

यह समझना भूल होगी कि राजनीतिक काम को लेकर बलराज के मन में किसी प्रकार की द्विविधा पायी जाती थी। वह ऐसा नहीं मानते थे कि वह गलत जगह आ गये हैं। वह स्पष्टतया इस बात को समझते थे कि लेखक अलग-थलग रहने वाला व्यक्ति नहीं है, उसे जीवन की ऊहापोह से, सामाजिक और राजनैतिक सरगर्मियों से दूर रहने की जरूरत नहीं है, भले ही वह सक्रिय रूप से उनमें भाग नहीं लेता हो। अपनी ज़िन्दगी के उस दौर में भी बलराज ऐसा नहीं मानते थे कि साहित्य-सृजन के लिए अलग-थलग रहना जरूरी है। बेशक, वह सेवाग्राम में, एक लेखक के नाते, अनुभव ग्रहण करने नहीं आये थे,

पर एक कलाकार की यह आंतरिक इच्छा भी थी कि देश के जीवन में उठने वाली प्रबल लहरों के सामीप्य में रहे। कुछ वर्ष बाद वह राजनीतिक सरगर्मियों के और अधिक निकट आ गये थे और तब वह मानने लगे थे, कि राजनीतिक कार्यकलाप को सांस्कृतिक कार्यकलाप से अलग नहीं किया सकता। बरसों बाद एक कलाकार के नाते, जिस प्रकार का दृष्टिकोण बलराज का पनपा, उनके विकास में सेवाग्राम में बिताये दिनों के अनुभवों की बहुत बड़ी भूमिका रही थी। इससे उनका दृष्टि-क्षेत्र अधिक व्यापक हुआ, उन्हें हमारे जनगण की महत्वाकांक्षाओं से अधिक निकट का परिचय मिला, जीवन की सूझ और गहरी हुई, साथ ही उनके संवेदन में भी अधिक गहराई आयी।

"तुम गांधी और टैगोर दोनों में से किसके साथ रहना पसद करोगे?" मैं सहसा पूछ लेता हूं।

"यह भी कोई पूछने वाला सवाल है?" वह कहते है।

"पर अगर तुम्हे चुनना पड़े तो?"

"निश्चय ही, मैं गांधी जी के साथ रहना पसंद करूंगा।"

"पर, तुम गाधी जी के अनुयायी तो नहीं हो ना, उनकी अनेक मान्यताओं को तुम 'सनक' कहते हो। 'खादी' में और 'आत्म-निग्रह' के उनके सिद्धांत में तुम्हारा विश्वास नहीं है...।"

कुछ देर तक बलराज चुप रहते हैं, फिर कहते है :

"गांधी जी को, उनकी 'सनकों' के परिप्रेक्ष्य में देखना गलत है।" बलराज तनिक उत्तेजित हो उठते हैं, "तुम्हें मालूम है, गोलमेज सम्मेलन के समय जब गाधी जी लंदन में गये थे तो ब्रिटिश प्रधानमत्री ने उन्हे एक तरह से धमकाने की कोशिश की थी। किसी स्वागत समारोह में गांधी जी से उसने कहा, मिस्टर गांधी, हमारे पास इतना गोला-बारूद है कि अगर हम चाहें तो एक दिन में हम तुम्हारे समूचे आंदोलन की धज्जियां उड़ा कर रख सकते हैं।" इस पर जानते हो गांधी जी ने क्या कहा? गांधी जी मुस्करा कर कहने लगे, "मिस्टर प्राईम मिनिस्टर, तुम्हारे गोला-बारूद के साथ हमारी जनता वैसे ही खेलेगी जैसे दीपावली के दिन हमारे बच्चे आतिशबाजी के साथ खेलते हैं।"

मैं बलराज की ओर देखता हूं। वह गहरे में उद्वेलित हो उठे हैं। और कहते-कहते उनकी आवाज लड़खड़ा गयी है। मैं उनके अंदर उठने वाले भावना के उस ज्वार को महसूस कर सकता हूं। उनके लिए गांधी जी उस प्रबल राष्ट्रव्यापी ज्वार के प्रतीक हैं जो देश भर में उठ खड़ा हुआ है, और जिसकी लय के साथ बलराज का अपना दिल धड़कने लगा है।

लगभग एक साल बीत गया है। दृश्य फिर से बदल गया है। बलराज

सेवाग्राम से चले आये है, और अब इगलैड की ओर रवाना होने वाले है, जहां वह बी. बी. सी. के भारतीय विभाग मे एक हिन्दुस्तानी एनाउसर के रूप में काम करेंगे। लगता है जैसे उनमे कोई बदलाव आ गया है जो मुझे परेशान कर रहा है। इन दिनो वह रावलपिण्डी मे है और विलायत जाने की तैयारी कर रहे है। हम दोनो भाई तागे मे बैठे कैन्टोनमेंट की ओर बढ़े जा रहे हैं, जहा वह मुहम्मद इस्माइल, टेलर मास्टर से एक नया ऊनी सूट बनवाने की सोच रहे है। मुहम्मद इस्माइल रईसजादों के कपड़े सीने वाला बड़ा महगा दर्जी है। यह बात मेरे गले से नीचे नही उतर पा रही है कि बलराज इगलैड को जा रहे है वह उस देश मे जाकर मुलाज़मत करेंगे जिसके विरुद्ध हमारी जनता संघर्ष कर रही है, और वह भी गांधी जी के साथ रहने और काम कर चुकने के बाद।

"क्या तुम अपने सूट के लिए विलायती कपड़ा खरीदोगे ?" मैं चिढ़कर पूछता हूं।

"इसमें कोई फर्क नही पड़ता। अगर अच्छा देसी कपड़ा नही मिला तो मैं विलायती कपडा ले लूंगा।"

"इतने साल तो खादी पहनते रहे हो अब विलायती कपड़े के सूट कैसे पहनोगे ?"

"मैं इंगलैंड मे तो खादी नही पहन सकता। मुझे उसी देश का पहनावा पहनना चाहिए जिस देश मे रहने और काम करने जा रहा हूं। आदमी को सही ढग से कपड़े पहनना चाहिए।"

"तुम अंग्रेजो की चाकरी करने की सोच ही कैसे सकते हो ? गाधी जी क्या सोचेंगे ?"

"मैं गांधी जी की इजाजत से ही आया हूं। मैं सेवाग्राम से भाग कर नहीं आया हूं। वास्तव मे लायनल फील्डन ने मुझे बी. बी. सी. मे ले जाने के लिए गांधी जी से इजाजत मांगी थी।"

यूरोप मे जग छिड़ चुकी थी। लायनल फील्डन, जो भारत मे आल इंडिया रेडियो के निर्देशक के रूप मे काम कर रहे थे, अब बी. बी. सी. मे एक भारतीय शाखा की स्थापना करने इंगलैंड जा रहे थे और गाधी जी के गहरे प्रशंसक होने के नाते, उनसे विदा लेने सेवाग्राम गये हुए थे। गांधी जी के साथ अपने वार्तालाप के दौरान ही उन्होने बलराज के बारे मे भी सवाल उठाया था कि वह उन्हे अपने साथ एक एनाउंसर के रूप में काम करने के लिए इंगलैंड ले जाना चाहते हैं।

उस समय भारत में असंतोष का ज्वार उठ रहा था, कांग्रेस के नेता भी यूरोप

मे फासीवाद के सिर उठाने पर चिन्तित थे, और फासी जर्मनी के विरुद्ध संघर्ष में उनकी सहानुभूति जनवादी ताकतों के साथ थी। कांग्रेस के नेता फासिस्ट-विरोधी ताकतों को अपना नैतिक समर्थन दे रहे थे। वे सक्रिय रूप से भी सहयो करने के लिए तैयार थे, मगर इस शर्त पर कि ब्रिटिश सरकार जंग के बा भारत को आजाद कर देने की गारंटी दे। इस तरह महायुद्ध एक अंतर्राष्ट्रीय सवाल बन गया था, जिसका संबंध केवल भारत और ब्रिटेन के आपसी संबंधों तक ही सीमित न रह कर विश्व मे जनवाद के भाग्य के साथ भी जुड़ता था।

1940 मे बलराज और दमयंती, इंगलैंड के लिए रवाना हो गये। उनका नन्हा बेटा परीक्षित, जो कुछ ही महीने पहले, जुलाई, 1939 मे रावलपिं के निकट कोह मरी नाम के पहाड़ी नगर में पैदा हुआ था, अपनी दादी मा के पास छोड दिया गया। वह इतना छोटा था कि उसे ऐसे समय में साथ ले जाना, जब जंग के कारण स्थिति उत्तरोत्तर बिगड़ रही थी, उचित नही समझा गया। सच तो यह है कि जिस दिन बलराज और दम्मो लंदन पहुंचे, ऐन उसी दिन हिटलर के पहले बम इंगलैंड मे सेंट पॉल गिरजे पर और अन्य स्थानों पर पड़े थे।

इसके बाद रावलपिण्डी मे भी परिवार की जीवनचर्या बहुत कुछ बदल गयी। माता जी बलराज के नन्हे बेटे के साथ व्यस्त हो गयी। शाम के वक्त वह रेडियो-सेट के सिरहाने आ बैठती जो दम्मो को विवाह के समय दहेज मे मिला था और जिसकी सुई बी. बी. सी. स्टेशन पर लगा दी गयी थी, ताकि बटन दबाने पर माता जी को वही स्टेशन सुनाई पड़े। इस तरह उन्हें गाहे-गाहे बलराज की आवाज सुनाई दे जाती, जब भी कभी वह आधे घंटे के हिन्दुस्तानी प्रोग्राम मे कोई एनाउंसमेंट करते। पर उनकी मात्र आवाज सुन पाने के लिए माता जी हर रोज लगभग दो घण्टे के लिए रेडियो के सिरहाने बैठी रहतीं। सदा की भांति इस बार भी पिता जी ने बलराज को चलते समय अनेक पत्र उन कारखानेदारों और माल-निर्यातकों के नाम लिख कर दे दिये थे जिनके साथ किसी जमाने में उनका व्यापारिक संबंध रहा था। बाद मे भी वह इन्हें इस आशय के पत्र लिखते रहे थे कि जब कभी बलराज को किसी प्रकार की सहायता की जरूरत हो, वे जरूर उसकी मदद करें। माता जी की दिनचर्या, अगले चार साल तक, जितनी देर तक बलराज और दमयन्ती इंगलैंड में रहे, बराबर एक जैसी ही बनी रही, उसमे कोई परिवर्तन नही आया। एक दिन के लिए भी वह रेडियो का बटन दबाना नही भूली, यह जानते हुए भी कि बलराज की आवाज हर रोज सुनाई नही पड़ सकती थी। इसके अतिरिक्त, वह दिन भर नन्हें परीक्षित की देख-रेख मे लगी रहतीं।

6. इंगलैंड से वापसी

चार साल बीत गये। 1944 की गर्मियों के दिन थे। परिवार के लोग इंगलैंड से बलराज की वापसी की राह देख रहे थे। उन दिनों के बारे में सोचते हुए लगता है, जैसे हम, परिवार के लोग सदा ही बलराज की बाट जोहते रहते थे, या तो बलराज कहीं से लौट रहे होते या उन्हें कहीं जाना होता था। हर बार बलराज के घर लौटने पर उनमें कोई न कोई तबदीली, कोई नई बात, जरूर देखने को मिलती। कभी वेशभूषा में, कभी उनकी दिलचस्पियों में, उनकी सरगर्मियों में। अबकी बार उनमें कौन-सी तबदीली आयी होगी? रावलपिण्डी के रेलवे स्टेशन पर खड़ा मैं यही सोच रहा था। फूलमालाएं लिये हम लोग प्लेटफार्म पर फ्रंटियर मेल का इन्तजार कर रहे थे। मां थी, पिता जी थे, और बहुत-से मित्र-संबंधी थे, परीक्षित था जो अब लगभग पांच वर्ष का हो चला था। बलराज और दमयन्ती लंदन से लौट रहे थे। साथ में उनकी नवजात बच्ची शबनम थी जिसका जन्म लंदन में ही हुआ था। फ्रंटियर मेल से लौट कर अबकी बार बलराज कौन-सा नया गुल खिलायेंगे?

उन दिनों रावलपिण्डी के हमारे छोटे-से नगर में एक बेटे का इंगलैंड से लौटना बहुत बड़ी घटना माना जाता था। हाथों में फूलों के गजरे उठाये, बलराज का स्वागत करने के लिए मित्र और संबंधी भारी संख्या में पधारे थे। बेटा इंगलैंड से लौट रहा था, इससे समाज-बिरादरी में पिता जी का रुतबा खूब ऊंचा उठ गया था।

गाड़ी पहुंची, ज्यों ही बलराज गाड़ी में से उतरे, बहुत से लोगों की उम्मीदों पर घड़ों पानी फिर गया। वह फर्स्ट क्लास के डिब्बे में से न उतर कर सेकेंड क्लास के डिब्बे में से उतर रहे थे, सूट-बूट के बजाय उन्होंने हल्के रंग की निक्कर पहन रखी थी, ऊपर गाढ़े की कमीज और पांवों में चप्पल थे। बाबू हरबंस लाल का बेटा इस फटीचर ढंग से विलायत से लौट रहा

किसी को आशा नही थी। उनका तो ख्याल था कि वह सूट-बूट डाटे होगा और मुह मे पाईप होगा। उन दिनो बेटे इस रूप मे इंगलैंड से नही लौटा करते थे। बलराज को चाहिए था कि कम से कम इस मौके पर तो बढ़िया सूट पहने गाडी मे से उतरते और एक "इगलैंड-रिटर्नड" के अदाज से लोगों से हाथ मिलाते और अंग्रेजी बोलते। इधर बलराज स्वयं डिब्बे में से सामान उठा-उठा कर बाहर निकाल रहे थे। कुछ मित्रों को सचमुच घोर निराशा हुई।

बलराज कुछ दुबला गये थे, चेहरा भी पीला लग रहा था। सिर पर के बाल भी झीने पड गये थे, और कनपटिया सफेद हो चली थीं। पहले उनका चेहरा सदा दमकता रहता था। चार साल पहले जब वह इगलैंड के लिए रवाना हुए थे तो उनके सूटकेस नये-नये सूटो से भरे पड़े थे जिन्हें मुहम्मद इस्माइल की दुकान से सिलवाया गया था। पर इस समय उन्हें हल्के सब्ज रंग की निक्कर और गाढे की कमीज और चप्पलो मे देख कर हैरत हो रही थी। दमयन्ती ने भी सलवार-कमीज पहन रखी थी। उनका शरीर कुछ-कुछ गदरा गया था, सिर के बाल उन्होंने इस तरह बना रखे थे कि किसी पक्षी का घोसला नजर आते थे। गोद में नन्ही शबनम थी।

मां प्लेटफार्म पर पहियो वाली कुर्सी मे बैठी थी। बलराज के चले जाने के बाद, श्रीनगर से लौटते हुए, एक हादसे मे मा की जाघ की हड्डी टूट गयी थी, जो फिर जुड़ नही पायी थी। पास मे उनके उनका पोता, परीक्षित खड़ा था। यह सचमुच ही परिवार के सदस्यो का पुनर्मिलन था। उनके लौटने से कुछ ही समय पहले मेरा विवाह हो गया था और मेरी पत्नी, शीला, तथा उनके संबंधी भी प्लेटफार्म पर खडे थे।

उनके लौटने के शीघ्र बाद ही एक छोटी-सी घटना घटी, जिससे बड़ी स्पष्टता से उस तबदीली की झलक मिल गयी जो बलराज के दिल और दिमाग मे आ गयी थी। इस मौके पर, रिवाज के मुताबिक, मां ने घर में बहुत से लड्डू बनवाये थे। बलराज से मिलने जब कभी मित्र-संबंधी आते तो उनसे उनका मुंह मीठा करवाने के लिए लड्डू पेश किये जाते। बलराज के एक पुराने मित्र ने जिन पर अंग्रेजियत हावी थी, पिता जी के बार-बार आग्रह करने के बावजूद, लड्डू लेने से इन्कार कर दिया, यह कह कर कि उन्हें देसी मिठाइया पसंद नही हैं। वह अंग्रेजो की तरह अंग्रेजी बोलने की कोशिश करते, और बलराज के साथ लंदन की बिग बैन और टॉवर आफ लडन की ओर वेस्ट मिनस्टर एबे की बार-बार चर्चा कर रहे थे। जब कभी बलराज बातचीत का रुख हिन्दुस्तान की ओर मोडते तो वह मित्र बड़ी उपेक्षा से "काग्रेस वालो" और उनके आदोलन के बारे में टिप्पणी करते। बलराज उठ खड़े हुए और बिना उन्हें

नमस्ते तक किये, कमरे मे से बाहर निकल गये । और वह मित्र जो यह उम्मीद बांध कर आये थे कि विलायत मे रहने के कारण उनके और बलराज के बीच गहरा रूहानी रिश्ता कायम हो गया होगा— हालांकि वह सज्जन स्वय कभी इगलैंड नहीं गये थे—बलराज के इस गैर-विलायती व्यवहार से बड़े निराश हुए । बाद में भी बलराज ने उन्हे इस बात के लिए कभी माफ नही किया कि उन्होंने पिता जी के हाथ से लड्डू लेने से इन्कार कर दिया था जिन्हें इतने स्नेह से उन्होंने पेश किया था ।

बलराज मे सचमुच तबदीली आ गयी थी और अबकी बार वह बड़ी गहरी तबदीली थी ।

अब तक बलराज की तस्वीर मेरी आंखों के सामने एक खुशमिजाज, लापरवाह से आदमी की रही थी, जिसे नयी-नयी बाते करना, नये-नये जोखिम उठाना पसद था, जो किसी प्रकार की बदिश को बर्दाश्त नही कर सकता. जो आचार-व्यवहार के नियमों का मात्र नियम होने के कारण अनुसरण नही करता था, एक ऐसा आजाद तबीयत इन्सान जिसे कोई धुन सवार हो जाती या मन मे कोई बात समा जाती तो बिना सोचे-समझे कूद पड़ता था, मुड़ कर देखता तक न था और जिसे इस बात की परवाह न थी कि उस जोखिम का परिणाम क्या होगा, जिसे न तो कभी पछतावों ने परेशान किया था, न किसी प्रकार के शक-शुबह ने; एक ऐसा व्यक्ति जिसे नये-नये काम करना पसद था, और इस बात की रत्ती भर भी परवाह नही थी कि लोग उसके बारे मे क्या कहेगे या क्या सोचेंगे, जो दिल का बड़ा साफ, उदार और स्नेही स्वभाव का था, एक खुशमिजाज-सा आदमी जिसे लोगो के साथ मिल बैठने मे लुत्फ आता था, जो खूब हसता-चहकता था, नये-नये चुटकुले जिसकी जुबान पर होते, जो नपी-तुली, बधी-बधायी जिंदगी नही जी सकता था और जो कभी भी मेज पर बैठ कर बाकायदगी से काम नही कर सकता था । इंगलैंड जाने से पहले उनका ऐसा ही स्वरूप मेरी आंखो के सामने उभरता था । मुझे तरह-तरह की परिस्थितियों मे उनका व्यवहार और उनकी प्रतिक्रिया याद हो आती । एक बार जब वह कालिज छोड़ने के बाद पिता जी के साथ व्यापार करने लगे थे, तो हम दोनो, एक बारात के साथ लाला मूसा नाम के एक नगर मे गये थे । बारात को रेलवे स्टेशन के निकट, रेलवे-क्वार्टरो मे ही ठहराया गया था । एक दिन, शाम के वक्त, हम दोनो टहलते हुए रेलवे स्टेशन पर जा पहुंचे, और वहां वेटिंग रूम मे अचानक ही हमारी भेंट हमारे दो संबधी युवको से हो गयी जो शराब की बोतल सामने रखे, बैठे पी रहे थे । यहां निराले मे वे इसलिए बैठे थे कि बारात के बुज़ुर्ग लोग कट्टर आर्यसमाजी विचारो के थे, और शराब

का बड़ा विरोध करते थे। उन दिनों बलराज स्वयं शराब नहीं पीते थे। बलराज को देखते ही वे बुरी तरह झेंप गये, उन्हें लगा जैसे रंगे हाथों पकड़े गये हैं। बलराज ने उन्हें इस स्थिति में देखा तो उनकी झेंप मिटाने के लिये, आगे बढ़ कर, मेज पर से शराब का गिलास उठाया और मुंह को लगा कर तीन-चार घूंट पी गये। इससे दोनों युवक आश्वस्त महसूस करने लगे। बलराज ने गिलास मेज पर रखा, उनके साथ कुछ देर तक बतियाते रहे फिर विदा ली और हम दोनों वेटिंग रूम में से बाहर निकल आये। यह कहने की जरूरत नहीं कि बाद में, सारी शाम, हम दोनों के बीच इस बात पर बहस होती रही कि क्या उनकी झेंप मिटाने भर के लिए यह जरूरी था कि बलराज स्वयं शराब के घूंट भरते ?

एक अन्य अवसर पर बलराज ने मुझे एक आप बीती सुनायी। यह उन दिनों की बात है जब कालिज के बाद वह व्यापार करने लगे थे। उन्होंने बताया कि एक बार जब वह व्यापार के सिलसिले में बम्बई गये तो वहां एक शाम वह जुहू समुद्र तट की ओर निकल गये। वहां एक वेश्या ने उन्हें देख कर इशारे किये, और मुस्करायी। इस पर बलराज का कुतूहल जागा और वह उसकी ओर बढ़ गये। वेश्या ने उनसे आठ आने मांगे और बलराज ने झट से आठ आने उसकी हथेली पर रख दिये, फिर वे दोनों चलते हुए बीच के ही निकट निराले में एक जगह जा पहुंचे। पर जब वेश्या उनका हाथ पकड़ कर सहलाने लगी तो बलराज इतने घबरा गये कि उठ खड़े हुए और सिर पर पांव रख कर भागे। उन्होंने बताया कि लड़की बार-बार चिल्लाती रही : अरे, अपने पैसे तो ले जाओ, पर बलराज ने मुड़ कर नहीं देखा और भागते चले गये।

इंगलैंड जाने से पहले उनका ऐसा ही स्वभाव हुआ करता था। पर लौटने पर वह मुझे कुछ बदले हुए लगे। उनका सारा अल्हड़पन और लापरवाही गायब हो चुके थे। अब उनमें बेतकल्लुफी और हंसी-खिलवाड़ ढूंढे को नहीं मिलते थे। जोखिम को मात्र जोखिम समझ कर उसमें कूद पड़ना भी अब दूर की बात रह गयी थी। राजनीति ने जो पहले उनके लिए गौण हुआ करती थी, अब बड़ा महत्व ग्रहण कर लिया था। पहले कभी वह इतने गंभीर और बेचैन नजर नहीं आये थे जितने अब नज़र आने लगे थे। उनमें पहले से कहीं ज्यादा चुस्ती, और मुस्तैदी आ गयी थी। विचित्र बात यह थी कि अब वह अपने लेखन-कार्य की चर्चा नहीं करते थे। इंगलैंड में अपने निवास के दिनों में, अपनी साहित्यिक गतिविधि के बारे में उन्होंने बस इतना ही कहा था कि दो-एक रेडियो-नाटक लिखे थे जो बी. बी. सी. से प्रसारित किये गये थे।

रावलपिण्डी में पहुंचने के दूसरे ही दिन उन्होंने कहा कि वह शाम को कंपनी बाग मे मुस्लिम लीग के एक जलसे मे जा रहे हैं, जिसमे फीरोज खान नून तकरीर करेंगे। मैं भौंचक्का-सा रह गया। उन्होंने सयासी जलसों मे इतनी दिलचस्पी पहले कभी नही दिखायी थी, यहां तक कि कांग्रेस के जलसों में भी अक्सर नही जाते थे। वास्तव में जब मैं उनसे मिलने सेवाग्राम गया था तो उन्होंने मुझे हरीपुरा में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन मे जाने का आग्रह तो किया था और मैं उसमें गया भी था, पर वह स्वयं उसमें नही गये थे। उस शाम हम दोनों उस मीटिंग मे गये। उसके शीघ्र ही बाद वह एक और जलसे में भी गये जो जिला कांग्रेस समिति के तत्वावधान में हो रहा था। देश मे राजनीतिक संघर्ष ने एक नयी करवट ली थी। पाकिस्तान का सवाल महत्व ग्रहण करने लगा था, जिसके परिणामस्वरूप शीघ्र ही साम्प्रदायिक तनाव बढ़ने वाला था। इसके अतिरिक्त जंग के बाद राष्ट्रीय नेताओं के रिहा कर दिये जाने पर देश में फिर से आंदोलन और असंतोष की लहरें उठने लगी थीं। बलराज राजनीतिक मामलो में गहरी दिलचस्पी लेने लगे थे, ऐसा पहले कभी देखने मे नही आया था।

पिता जी का ध्यान स्वभावतः इस ओर लगा हुआ था कि बलराज अब क्या करेंगे, कौन-सा व्यवसाय अपनायेंगे, किस दिशा मे पांव उठायेंगे। हां, अबकी बार उन्होने व्यापार की चर्चा नही की, क्योंकि वह समझ गये थे कि बलराज अब इतनी दूर निकल गये थे कि अब वह व्यापार की ओर लौट कर नही आयेंगे। शायद उन्हें इस बात का भी भास हो गया था कि जिस प्रकार के 'व्यापार' का आग्रह वह पहले किया करते थे, उसमें अब दम नही रह गया था। न ही उसमें धनोपार्जन की आशा की जा सकती थी। वास्तव में वह एक तरह का दिवास्वप्न देखते रहे थे कि व्यापार के माध्यम से, वह जैसे-तैसे अपने बेटे को घर पर बनाये रखने मे सफल हो जायेंगे।

दिन बीतने लगे और बलराज की ओर से कोई संकेत नही मिल रहा था कि वह आगे किस दिशा में कदम उठायेंगे। उनके लौटने के कुछ ही दिन बाद 'आकाशवाणी' से उन्हें एक अच्छी सरकारी नौकरी की पेशकश मिली, पर अभी इसकी खबर घर के लोगों तक पहुंची भी नही थी कि बलराज ने उसे ठुकरा दिया था। पता चलने पर पिता जी बड़े हैरान हुए, क्योंकि बी. बी. सी. मे चार साल का अनुभव बड़ा मानी रखता था, और वह 'आकाशवाणी' में एक अच्छी नौकरी के लिए अपने आप ही बहुत बड़े सर्टिफिकेट के बराबर था। पर बलराज का दिमाग कहीं और ही चक्कर काट रहा था। उनका जेहन बिल्कुल साफ रहा हो, ऐसा भी नही कहा जा सकता। वह रोजी कमाने के

लिए क्या करेंगे और कौन-सा व्यवसाय अपनायेंगे इन बारे में उन्होंने शायद अभी तक सोचा ही नहीं था। शायद वह इस इंतजार में थे कि अपने आप ही कोई रास्ता खुल जायेगा।

कुछेक दिन तक रावलपिण्डी में रहने के बाद बलराज और दमयन्ती, अपने दोनों बच्चों को साथ लेकर श्रीनगर के लिए रवाना हो गये। परिवार के कुछ और सदस्य भी उनके साथ गये।

घर में कुछ-कुछ वैसा ही माहौल उस समय था जैसा कुछ वर्ष पहले रहा था, जब बलराज कालिज की पढाई पूरी करके अपने शहर लौटे थे और जीवन में प्रवेश करने की तैयारी कर रहे थे।

अबकी बार भी अगले कदम का फैसला श्रीनगर में ही हुआ। एक दिन सहसा बलराज ने घोषणा कर दी कि वह बंबई जा रहे हैं और वहां मेक्सिम गोर्की के नाटक 'नीचा नगर' पर आधारित एक फिल्म में अभिनय करेंगे जिस फिल्म का निर्माण उनके पुराने सहपाठी और मित्र, चेतन आनंद कर रहे थे। सुन कर पिता जी को गहरा धक्का लगा। उन्हें इस बात की तनिक भी आशा नहीं थी कि उनका बेटा, जो आर्यसमाज की नैतिक परंपराओं में पल कर बड़ा हुआ था, जिसने ऊंची शिक्षा ग्रहण की थी, जो शादीशुदा और दो बच्चों का बाप था, और जो ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कार्पोरेशन जैसी गरिमा वाली संस्था में काम कर चुका था, अब फिल्मी-ऐक्टर जैसे बदनाम व्यवसाय को अपनायेगा, जिसे केवल 'लुच्चे-लफंगे' अपनाते हैं।

इतना ही नहीं, जो सज्जन फिल्म बना रहे थे उनकी भी योग्यता भरोसे लायक नहीं थी कि पिता जी को भरोसा हो जाता कि योजना जरूर कामयाब होगी। बलराज उनके बारे में केवल इतना ही पिता जी को बता पाये थे कि चेतन आनंद कालिज में उनके सहपाठी रह चुके थे जहां वह कविता कहा करते थे, कि कुछ देर के लिए वह इंगलैंड में भी रहे थे जहां से कोई इम्तहान पास किये या डिग्री लिये बगैर लौट आये थे, कि कुछ देर पहले तक वह एक स्कूल में मामूली अध्यापक के तौर पर काम कर रहे थे, आदि-आदि। उनकी योग्यता के ये गुण पिता जी को प्रभावित करने के लिए काफी नहीं थे, न ही इस बात का विश्वास दिलाने के लिए कि बम्बई में पहुंचते ही उनके बेटे के सामने उज्ज्वल संभावनाओं के द्वार खुल जायेंगे। जाहिर है, पिता जी की नींद फिर से हराम होने लगी थी।

अबकी बार भी सितंबर महीने में (1944) श्रीनगर से ही बलराज ने नई जिंदगी में पांव रखने का फैसला किया और अपने दो बच्चों—परीक्षित, जिसकी उम्र उस समय पांच वर्ष की थी और शबनम जो अभी एक वर्ष की छोटी-सी बच्ची थी, को लेकर, दमयन्ती के साथ, बंबई के लिए रवाना हो गये। पर

अबकी बार बलराज अनुभव ग्रहण करने और अपनी किस्मत आजमाने के लिए नहीं जा रहे थे, उनका नजरिया बहुत कुछ बदल चुका था।

जंग के दिनों में लंदन में रहते हुए, उन्होंने दुनिया भर में जंग की आग को भड़कते देखा था। उन्हें जिंदगी और मौत के बीच झूलते लोगों के उस विकट संघर्ष को देखने-समझने का भी मौका मिला था और उन प्रबल आर्थिक और सामाजिक कारणों को जानने का भी, जिनके फलस्वरूप वह जंग छिड़ी थी। यातना शिविरों में लाखों-लाख यहूदियों का नर-संहार, हिटलर के 'ब्लिट्ज़क्रीग' आक्रमण, लंदन समेत यूरोप के नगरों पर बमबारी, और यूरोप में, एक के बाद एक देश की पराजय, हिटलर की बढ़ती फौजों के विरुद्ध लाल सेना का वीरतापूर्ण संघर्ष, इन सब घटनाओं ने बलराज को जैसे झझोड़ कर जगा दिया था, और जीवन की नंगी यथार्थताओं को देखने पर मजबूर कर दिया था, जिनके प्रति उदासीन नहीं रहा जा सकता था, और जिनके प्रति मात्र एक साहित्य प्रेमी का-सा निरपेक्ष रुख भी नहीं अपनाया जा सकता था। उन्होंने पुरानी दुनिया को धराशायी होते और जंग के बाद की बदली हुई दुनिया को उठते देखा था। अब दुनिया पहले वाली, साम्राज्यों और उपनिवेशों वाली, दुनिया नहीं रह गयी थी। बलराज ने देखा कि उनके अपने देश में चलने वाला स्वतन्त्रता-संग्राम, उस बहुत बड़े संग्राम का ही अंग था जो विश्वव्यापी स्तर पर अग्रगामी और प्रतिगामी ताकतों के बीच चल रहा था।

बलराज ने, लंदन में रहते हुए, युद्ध की भयावहता का, युद्धजनित यातनाओं और अभावों का अनुभव किया था, और उन्हें इस बात का विश्वास हो गया था कि कोई भी कलाकार जीवन का मात्र दर्शक नहीं बना रह सकता; उसे जीवन की ऊहापोह में अपनी भूमिका निभानी होगी, एक कलाकार के नाते भी और एक नागरिक के नाते भी। कला के मानदंडों के बारे में तथा कलाकार की भूमिका के बारे में उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ बदल चुका था।

उस विराट संघर्ष में बलराज की सहानुभूति सोवियत संघ तथा जनतंत्रात्मक शक्तियों के साथ रही थी। वह अधिक गंभीरता के साथ उन विचारधाराओं के महत्त्व का अध्ययन करने पर बाध्य हुए थे जो उस संघर्ष की तह में काम कर रही थी। वह सामाजिक घटनाक्रम की मार्क्सवादी व्याख्या की ओर बरबस आकृष्ट हुए। लंदन के निवास ने उन्हें मार्क्सवादी बना दिया था। जब उन्होंने चेतन आनंद की फिल्म में भाग लेने के लिए बंबई जाने का निश्चय किया तो यह निर्णय सिने-अभिनेता बनने अथवा फिल्मी व्यवसाय अपनाने या फिल्मी दुनिया का मजा लेने का इतना नहीं था, जितना इस बात का कि कला के इस सशक्त माध्यम का प्रयोग करते हुए वह दर्शकों के सामने जीवन की यथार्थताओं

को प्रस्तुत कर सकेंगे, और सामाजिक दृष्टि से उन्हें अधिक सचेत कर सकेंगे।

बलराज के चले जाने के कुछ महीने बाद, पिता जी ने मुझे इस बात का पता लगाने के लिए बम्बई भेजा कि वहां जाकर देखूं कि बलराज की गुजर कैसे चल रही है, और जो फिल्म वह बनाने गया था, उसका क्या हुआ, और बलराज को यह समझाने की कोशिश भी करो कि उस चिनौने व्यवसाय को छोड़ कर कोई ढंग का व्यवसाय अपनाये, आदि-आदि। ऐसे अभियानों पर मैं पहले भी जा चुका था, चुनांचे अबकी बार भी मैं फौरन तैयार हो गया।

स्टेशन पर दमयन्ती मेरी राह देख रही थीं। बांदरा में, पाली हिल की ओर जाते हुए, जहां बलराज और उनका परिवार उस समय रह रहा था, मैंने उस फिल्म के बारे में पूछा, तो दमयंती ने हैरान होकर मेरी ओर देखा, "फिल्म? कौन-सी फिल्म?" और फिर, मुस्करा कर बोली, "चल ही रहे ना, अपनी आंखों से खुद देख लेना।"

पाली हिल पर मुझे एक लंबे-चौड़े फ्लैट में ले जाया गया, जो किसी घर की दूसरी मंजिल पर स्थित था। मैंने देखा कि वहां पर अनगिनत लोग रह रहे हैं —चेतन और उनकी पत्नी उमा, हमीद बट्ट तथा उनकी पत्नी अजरा और अजरा की दो बहनें, बलराज और दमयन्ती अपने दो बच्चों के साथ, इसके अतिरिक्त चेतन के दो भाई, गोल्डी और देव आनन्द। जिस वक्त मैं पहुंचा, सामने वाले बड़े कमरे में कोई रिहर्सल चल रहा था, जिसमें घर के सभी सदस्य मगन थे, और सभी बड़े उत्तेजित भी नजर आ रहे थे। पता चला कि यह "नीचा नगर" की रिहर्सल नहीं है बल्कि किसी नाटक की रिहर्सल चल रही है जिसे जन नाट्य संघ (इप्टा, इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसियेशन) प्रस्तुत करने जा रहा है और जिसमें चेतन आनन्द प्रमुख भूमिका निभा रहे हैं और जिसका निर्देशन बलराज कर रहे हैं। यह नाटक ख्वाजा अहमद अब्बास का लिखा हुआ "जुबैदा" नाम का नाटक था और उसके मंचन की तैयारी लगभग मुकम्मल हो चली थी।

शीघ्र ही मुझे यह भी खबर मिली कि 'नीचा नगर' फिल्म की परियोजना किन्हीं आर्थिक कारणों से फिलहाल स्थगित कर दी गयी है, और अब, उससे भी कहीं ज्यादा जरूरी योजना को हाथ में ले लिया गया है। बलराज जन-नाट्य संघ की जिसे आम तौर पर इप्टा के नाम से पुकारा जाता था—सरगर्मियों में सब कुछ भूल कर डूबे हुए थे।

शीघ्र ही मुझे इस बात का भी पता चला कि जन-नाट्य संघ इप्टा मात्र एक नाटक मण्डली न होकर एक सांस्कृतिक आंदोलन का-सा रूप ग्रहण कर चुकी है। बंगाल के दुर्भिक्ष के दिनों में मैं उसका एक अविस्मरणीय ...

चुका था, जब इप्टा की एक नाट्य-संगीत मण्डली ने दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के उद्देश्य से उत्तरी भारत के अनेक नगरों का दौरा किया था। उस अभिनय में जन-सामान्य की यातनाओं के दृश्य देख कर दर्शक, इतने भावोद्वेलित हो उठे थे कि मेरी आंखों के सामने कुछ स्त्रियों ने अपनी सोने की चूड़ियां और बालियां उतार कर दानस्वरूप दे दी थीं। हमारे देश के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में इप्टा को बड़ी सशक्त और महत्वपूर्ण भूमिका निभाना था। जन-जीवन के साथ गहरे में जुड़ते हुए, और नृत्य, संगीत और नाटक की लोक शैलियों का अधिक प्रयोग करते हुए, इप्टा शीघ्र ही समाजोन्मुख नाटक के पुनरुत्थान और विकास का सबसे बड़ा मंच बनने वाला था।

जिस समय मैं वहां पहुंचा, उस समय इस बात पर बड़ी गर्मागर्म बहस चल रही थी कि मंच पर एक घोड़े को कैसे लाया जाये। नाटक में विवाह का एक दृश्य था, जिसमें बारात जुबैदा के घर जाती है। बलराज जिद्द पकड़े हुए थे कि बारात का दृश्य सचमुच बारात जैसा ही होना चाहिए, जिसमें दूल्हा घोड़े की पीठ पर बैठा हो और आगे-आगे बैंड-बाजा बज रहा हो, और दूल्हा-दुल्हन के सबंधियों के बीच बाकायदा 'मिलनी' हो।

'सचमुच कमाल हो जायेगा!' बलराज बार-बार कहे जा रहे थे। यह विचार उन्हीं को सूझा था और वह इसे अमली जामा पहनाने पर तुले हुए थे।

"कोई ढंग की बात करो बलराज। स्टेज पर तुम घोड़े को कैसे ला सकते हो?" चेतन ने कहा।

"क्यों नहीं ला सकते? जरा सोचो तो, सफेद घोड़ा होगा, और उसकी पीठ पर जरी का सुनहरी जामा, और उस पर जीन कसी होगी। मैं कहता हूं, लोग फड़क उठेंगे।"

"और अगर स्टेज पर घोड़ा बिगड़ गया तो?" चेतन बोला।

"या अगर स्टेज पर उसने इससे भी बुरी हरकत कर दी तो?" हमीद बट्ट ने चुटकी ली।

"अगर तुम उसे स्टेज पर लाने में कामयाब हो भी गये, तो दर्शकों का सारा ध्यान घोड़े की ओर चला जायेगा, लोग घोड़े को देखने लगेंगे, जुबैदा के संवाद कौन सुनेगा?"

आखिर इस बात पर समझौता हुआ कि घोड़ा बारात के आगे आगे तो आयेगा, और उस पर दूल्हा सवार भी होगा, पर वह हाल के दरवाजे तक पहुंच कर रुक जायेगा, और बाराती बाजे-गाजे के साथ हाल के अंदर बढ़ जायेंगे, और स्टेज के सामने 'मिलनी' होगी। फिर दूल्हा घोड़े पर से उतर कर अंदर आयेगा। बलराज की बात भी रह गयी और चेतन की भी, कि घोड़ा

स्टेज पर नहीं लाया जायेगा । हाल के प्रवेश द्वार से बारात दाखिल हुई—बंबई के सुंदर बाई हाल में यह नाटक पहली बार खेला गया था—आगे-आगे बैंड बाजा था, और सबके पीछे, सफेद घोड़ी की पीठ पर बाकायदा सेहरे के नीचे, दूल्हा बैठा था । घोड़ा दहलीज पर खड़ा था और सभी लोग उसे देख सकते थे । 'मिलनी' खत्म हुई तो दूल्हा घोड़े पर से उतरा और हाल के अंदर चला आया । 'मिलनी' की रस्म, हाल के अंदर, स्टेज के ऐन सामने, अदा की गयी । इसमें शक नहीं कि नाटक में शादी का यह दृश्य बड़ा अनूठा, आकर्षक और मनमोहक था । यों भी 'जुबैदा' नाटक दर्शकों को बेहद पसंद आया था । उसके संवाद बड़े चुस्त और हास्य-व्यंग्य से भरे थे, उसकी भाषा उस तबके की बोलचाल की भाषा थी जिसके जीवन के बारे में यह नाटक लिखा गया था । उसका कथानक, सम-सामयिक जीवन में से उठाया गया था और उसमें गहरी सामाजिक भावना पायी जाती थी । नाटक में गठन की कमजोरियां जरूर थी, पर इसके बावजूद वह बड़ा लोकप्रिय हुआ और उन सामाजिक नाटकों में, जो इप्टा के मंच पर, आगामी वर्षों में अपनी धूम मचाने वाले थे, अगुआ साबित हुआ । ख्वाजा अहमद अब्बास के साथ बलराज के चिरजीवी मैत्री की यही शुरुआत थी । दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे थे, और जन-नाट्य संघ के संस्थापकों में से थे और गहरी सामाजिक दृष्टि वाले समर्पित व्यक्ति थे । बाद में उन्हें अनेक नाटकों, फिल्मों तथा सामाजिक-सांस्कृतिक सरगर्मियों में मिल कर काम करना था, जिनमें बंगाल के दुर्भिक्ष से संबंधित "धरती के लाल" नामक फिल्म का निर्माण शायद सबसे महत्वपूर्ण काम था । इस फिल्म में बलराज ने एक अभिनेता के रूप में काम किया जबकि पटकथा तथा निर्देशन अब्बास साहब का था ।

एक कलाकार के नाते बलराज के विकास में इप्टा का अपना विशिष्ट स्थान रहा था । इससे पहले जिस यथार्थवादी मंच के साथ बलराज का संपर्क रहा था, वह ज्यादा शहरी किस्म का था, और उसमें संयम और नफासत और बारीकियां तो बहुत थी पर लोक नाट्य शैली का खुलापन, स्वतः स्फूर्त भाव-भंगिमा और भावनात्मक तीव्रता नहीं पायी जाती थी । इप्टा लोक-शैलियों से बहुत कुछ ग्रहण करता तथा अपनाता था । साथ ही इप्टा के नाटक पढ़े-लिखे शहरी लोगों के सामने इतने नहीं खेले जाते थे जितने जन-साधारण के विशाल समुदाय के सामने । अपने अभिनय में पात्रों के चरित्र को स्पष्टतया तथा जीवंत ढंग से प्रस्तुत कर पाने में और साथ ही ऐसा अभिनय प्रस्तुत कर पाने में जो गहरे में दिल को छूता हो—एक ओर यथार्थवादी शैली और दूसरी ओर लोक-नाट्य शैली की ओजस्विता, इन दोनों का सम्मिश्रण बलराज

के लिए बड़ा सहायक सिद्ध होने वाला था। पर इसका भी अभी वक़्त नहीं आया था।

इस क्षेत्र में अपने पदार्पण की चर्चा करते हुए बलराज लिखते हैं—

"एक दिन प्रातः मैंने अखबार में पढ़ा कि किसी जगह पर जन-नाट्य संघ द्वारा एक नाटक खेला जाने वाला है। मुझे चीन के लोक-नाट्य संघ के बारे में तो कुछ जानकारी थी पर भारत में जन-नाट्य संघ कहां से टपक पड़ा ? उस रोज, दिन भर फ़िल्मी दफ़्तरों की सीढ़ियां उतरने और सीढ़ियां चढ़ते रहने के बाद मैं बी. पी. सामन्त ऐण्ड कंपनी के कार्यालय में बैठा था कि मैंने जाने-माने सिने पत्रकार श्री बी. पी. साठे से, जो वहां पर बैठे थे, पूछा, "साठे, क्या बंबई में कोई जन-नाट्य संघ नाम की संस्था भी है ?"

"है, तो ? मैं स्वयं उसका सदस्य हूं।" वह हंस कर बोले, "मैं अभी-अभी उसकी एक मीटिंग में जाने वाला हूं। चाहो तो तुम भी चले आओ। ख्वाजा अहमद अब्बास अपना नया नाटक पढ़ेंगे।"

मेरे आग्रह पर चेतन आनंद भी हमारे साथ हो लिये।

'आपेरा हाऊस के निकट, एक तंग-सी गली में प्रोफ़ेसर देवधर का संगीत विद्यालय स्थित था। उसमें एक छोटा-सा हॉल था जिसमें सौ के लगभग व्यक्ति समा सकते थे। पीछे की ओर छोटा-सा मंच था। यही हॉल "इप्टा" की सरगर्मियों का केन्द्र बनने वाला था।

"बीसेक लड़के-लड़कियां पंखे के नीचे बैठे थे। अब्बास अपना नाटक पढ़ने वाले ही थे। अब्बास साहिब के साथ मेरी मामूली-सी जान-पहचान पहले से थी। लंदन निवास के दिनों में मैंने उनकी कुछेक कहानियां पढ़ी थीं। पर हमारी मुलाकात पहले कभी नहीं हुई थी। बैठे-बैठे ही अब्बास ने हम लोगों के साथ हाथ मिलाया और फिर नाटक पढ़ने में जुट गये। किसी नाटक के गुण-दोष का पता मात्र एक बार उसके संवाद सुन लेने से नहीं जो जाता। मुझे लगा जैसे नाटक में भावनात्मक गहराई तथा ड्रामाई विकास की कमी पायी जाती है। मैं इसी उधेड़बुन में था जब अब्बास साहिब ने बैठे ही बैठे एक अजीब-सी घोषणा कर दी।

"दोस्तो, मुझे इस बात की खुशी है कि हमारे बीच बलराज साहनी मौजूद हैं। मैं यह नाटक उनके हाथ में दे रहा हूं, इस अनुरोध के साथ कि इसका निर्देशन वह करें।"

"मैं कहता भी तो क्या कहता। हां, मैंने इतनी अक्लमंदी जरूर की कि इन्कार नहीं किया। मैं निठल्ला बैठ बैठ कर तंग आ चुका था। कम से कम कुछ करने को तो मिला।

"इस तरह, अप्रत्याशित ढंग से, एक ऐसा दौर शुरू हुआ जिसने मेरे जीवन पर अमिट प्रभाव छोड़ा है। मैं अभी भी अपने को "इप्टा" का कलाकार कहते हुए गर्व महसूस करता हूं। उस नाटक का नाम "जुबैदा" था और उसे बंबई में 1944 के जाड़ों में खेला गया था।"

बलराज पर तो जैसे जनून सवार हो गया। उसे इप्टा और उसकी सरगर्मियों को छोड़ कर और किसी बात की सुध ही नहीं रही। बलराज में बहुत बड़ी तबदीली आ गयी थी। इससे पहले, वह मात्र भावनात्मक स्तर पर, राष्ट्रीय संघर्ष से जुड़े हुए थे, अब वह रंगमंच के एक कलाकार के रूप में उसमें सक्रिय रूप से भाग लेने लगे थे। कला और राजनीति के बीच की वह विभाजन रेखा जो उन्होंने पहले अपने लिए खींच रखी थी अब लगभग लुप्त हो चुकी थी, और अब वह मानने लगे थे कि दोनों प्रकार की, कलात्मक तथा राजनीतिक सरगर्मियों को एक दूसरी में घुल-मिल जाना होगा। 'इप्टा' सामाजिक प्रतिबद्धता का नाटकरूपी आंदोलन था। उसका ध्येय सामाजिक यथार्थ का व्यापक जीवन्त चित्र प्रस्तुत करना था, एक तटस्थ द्रष्टा के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि एक भागीदार के दृष्टिकोण से। किसी भी कलाकृति की रचना तटस्थ रह कर नहीं की जाती बल्कि गहरे रागात्मक लगाव से ही की जाती है और यही कारण है कि पांचवें दशक के दौरान भारत मे नाटक के विकास को 'इप्टा' ने गहरे में प्रभावित किया। हममें से वे लोग जिन्होंने इप्टा की सरगर्मियों को देखा है अथवा उनमें शिरकत की है, उन्हें वे दिन याद करके गहरे सुख की अनुभूति होती है। प्रत्येक भाषाई क्षेत्र में उसकी शाखाएं बन रही थीं। बंगाल में वे समकालीन विषयों को लेकर 'जात्रा' प्रस्तुत करते थे, अथवा छाया-नाटक अथवा ऐसे नाटक जो बंगाल की उत्कृष्ट परंपरा के अनुरूप थे। बहुत से प्रदेशों मे नृत्य-संगीत मण्डलियों का गठन हो गया था, महाराष्ट्र की मण्डली 'पवाड़ा' प्रस्तुत करती जबकि उत्तर प्रदेश की 'नौटंकी' खेलती। इस आंदोलन में लोककला की अनेक शैलियों को अपनाया जा रहा था और साथ ही नये-नये प्रयोग किये जा रहे थे। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य नाटकों के रूपांतर खेले जाते थे, मिसाल के तौर पर गोगोल का 'इंसपेक्टर जेनरेल', जे. बी. प्रीस्टले का '*They Came to a City*' और '*Inspector Calls*' तथा अनेक अन्य नाटक। इप्टा की विशिष्टता इस बात मे भी थी कि वह कलाकार को सामाजिक यथार्थ के निकट ले आया था, और उसे इस बात की प्रेरणा देता था कि वह सामाजिक संघर्ष में प्रगतिशील ताकतों का समर्थन करे। रंगमंच का कार्य-कलाप अब गिने-चुने बुद्धिजीवियों अथवा पेशेवर अभिनेताओं आदि तक सीमित नहीं रह गया था। इप्टा से बलराज को भागीदारी और प्रतिबद्धता की प्रेरणा मिली, जिसका

अनुभव उन्हें पहले नही हुआ था। इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं कि वह बड़े सहज, स्वाभाविक ढंग से घुल-मिल गये, वैसे ही जैसे मछली तालाब में खो जाती है।

कहने की आवश्यकता नही कि बलराज से घर लौट चलने का आग्रह और अनुरोध करना तो दूर, मेरा अपना कायापलट हो रहा था। मैं जब रावलपिण्डी लौटा तो "जुबैदा" नाटक की प्रति मेरे जेब में थी।

साम्प्रदायिक दंगो के दिनो में, इप्टा की मण्डलियां ऐसे इलाको में जा-जाकर साम्प्रदायिकता-विरोधी कार्यक्रम प्रस्तुत करती थीं जहा पर बड़ा तनाव पाया जाता था। देश के बंटवारे की पूर्ववेला मे तथा बंटवारे के बाद भी, बबई के ऐसे इलाकों में जहां साम्प्रदायिक दंगे चल रहे थे, तथा अनेक अन्य नगरों और कस्बों मे, अब्बास साहिब का नाटक "मैं कौन हूं" तथा ऐसे ही अनेक अन्य नाटक दर्जनों बार खेले गये, कभी-कभी तो उन्हे उन इलाकों मे खेलना बड़े जोखिम का काम हुआ करता था। गान-मण्डलियां तत्कालीन समस्याओं से संबंधित गीत गाती फिरतीं जिनकी रचना प्रेम धवन, शंकर शैलेन्द्र, अमर शेख, अन्ना भाव साठे, गवानकर तथा अन्य गीतकारो ने की होती। इप्टा की सरगर्मियों का एक रोचक पहलू यह भी था कि हर शाम, देवधर हाल मे (जो ग्रांट रोड के इलाके मे स्थित था) रिहर्सल कर चुकने के बाद इप्टा के उत्साही कलाकार अपने-अपने घरो को लौटने के लिए जब लोकल गाड़ी मे सवार होते तो गाड़ी के डिब्बों के अदर पहुंचते ही गीत गाने लगते। उनके गीत सुन कर कभी कभी मुसाफिरों की भीड़ इकट्ठी हो जाती और सारा डिब्बा देशप्रेम के इन प्रगतिशील गीतों मे गूंजने लगता।

ऐसी थी वे सरगर्मियां जिनसे बलराज गहरे में जुड़ गये थे। अब वह सारा वक्त इप्टा के एक कलाकार और कार्यकर्ता के रूप मे काम कर रहे थे। चेतन आनंद की फिल्म मण्डली करीब-करीब बिखर चुकी थी, और कुछ समय बाद बलराज और दमयन्ती भी, बांद्रा का फ्लैट छोड़ कर, जुहू मे थियोसाफिकल कालोनी में 'स्टेला विला' नाम का एक छोटा-सा बगला किराये पर लेकर रहने लगे थे। दमयन्ती की अल्प-सी आय पर घर की दाल-रोटी चलने लगी थी। वह रंगमंच पर तथा फिल्मों में काम करने लगी थीं। वह इप्टा की भी उत्साही कलाकार थी और बहुत बढ़िया अभिनय करती थीं। मार्क्सवादी विचारधारा की ओर वह बलराज से भी पहले आकृष्ट हुई थीं। चार सौ रुपये माहवार आय पर वह बंबई के पृथ्वी थियेटर में काम करने लगी थी। सुविख्यात भारतीय सिने-अभिनेता, पृथ्वीराज ने उन्हीं दिनों पृथ्वी थियेटर नाम से एक नीम-पेशेवर रंगमंच की स्थापना की थी जो प्रगतिशील राष्ट्रवादी

विषयों पर आपेरा हाउस मे नाटक खेला करता था। दमयन्ती उनकी कलाकार मडली में शामिल हो गयी थी। उनकी अभिनय-कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी थी। उनकी कुछेक भूमिकाएं, चिरस्मरणीय थी, विशेष रूप से 'दीवार' नामक नाटक मे उनकी भूमिका। उन्होंने इप्टा द्वारा निर्मित 'धरती के लाल' नामक फिल्म में भी अभिनय किया था, साथ ही 'हलचल', 'दूर चलें', 'गुड़िया' आदि फिल्मो में भी। फिल्मों मे उनके काम की सराहना की जाने लगी थी और उनके सामने नयी-नयी संभावनाओ के द्वार खुलने लगे थे।

पिता जी को यह उम्मीद नही थी कि इंगलैंड से लौट कर उनका बेटा इस तरह के काम करने लगेगा। उनकी नजर मे रगमंच पर अथवा फिल्मो मे काम करना भांडो के काम जैसा ही था। उनके गले से यह बात नही उतर पा रही थी कि बलराज ने एक ऐसा धन्धा अपनाया है जिसे धन्धे का नाम ही नही दिया जा सकता, और उनकी पत्नी घर-परिवार के लिए जीविका कमाने लगी है और वह भी नाटक करके और फिल्मो मे अदाकारी द्वारा। इससे पिता जी की धारणाओं तथा नैतिक मान्यताओ को ठेस पहुंची थी। वह स्वय अपनी आंखों से सब कुछ देख पाने के लिए बम्बई आ पहुंचे।

उन दिनों इप्टा की केन्द्रीय मण्डली ने अधेरी मे एक बड़ा-सा बंगला किराये पर ले रखा था जिसके बाहर खुला आगन था। इस आंगन मे, वड़ के वृक्ष के नीचे गारे-मिट्टी का एक बडा-सा चबूतरा हुआ करता था। यह चबूतरा रिहर्सलों के लिए मंच का काम किया करता था। यहा पर कई बार सदस्यो तथा हमदर्द दोस्तों आदि के लिए छोटे-मोटे कार्यक्रम भी प्रस्तुत किये जाते थे।

ऐसा ही एक कसर्ट केन्द्रीय मण्डली द्वारा बिनॉय रॉय के निर्देशन मे प्रस्तुत किया गया जिसमे कुछेक गीत, नृत्य तथा दो-एक छोटे-छोटे नाटक शामिल थे। बलराज इस कार्यक्रम को देखने के लिए पिता जी को अपने साथ ले गये और अभिनय के दौरान सारा वक्त उनके साथ सट कर बैठे रहे। पिता जी बड़े ध्यान से गीत सुनते और अभिनय देखते रहे। ज्यो-ज्यो कार्यक्रम आगे बढ़ता गया, उनकी रुचि बढ़ती गयी। बलिदान और संघर्ष की भावना से ओतप्रोत देशभक्ति के गीत सुन कर पिता जी इतने भावोद्वेलित हुए कि अभिनय के बाद उन्होंने बलराज को बांहो में भर लिया और बोले, "अगर यहां पर तुम यह काम कर रहे हो तो मुझे तुमसे कोई शिकायत नही।"

29 अप्रैल, 1947 को दमयती सहसा चल बसी। कुछ मास पहले, जिन दिनों देहात मे 'धरती के लाल' की शूटिंग चल रही थी, दमयन्ती को पेचिश की शिकायत होने लगी थी, सभवत: गांव के पोखरो और ताल-तलैया का पानी पीने के कारण, जिसे वह और मंडली के अन्य सदस्य पीते रहे थे। बाद

में एक लापरवाह और ग़ैर-जिम्मेदार डाक्टर ने, जो उनका इलाज कर रहा था, जरूरत से ज्यादा मिकदार मे एमेटीन का इजेक्शन दे दिया। उस दिन दमयन्ती इजेक्शन के बावजूद बहुत ज्यादा घूमती-फिरती और घर का काम करती रही थी, नतीजा यह हुआ कि दम्मो का सहसा प्राणान्त हो गया।

बलराज के लिए यह सदमा असह्य था। भरी जवानी मे—दमयंती की उम्र केवल तब 28 वर्ष की थी—बलराज के जीवन में से उठ जाने से मानो बलराज के पाव के नीचे से धरती खिसक गयी हो। वह बलराज के लिए न केवल एक समर्पित पत्नी ही थी बल्कि बड़ी सूझ-बूझ वाली जीवन-संगिनी भी थी। पिछले तीन वर्षों से इन सरगर्मियों मे वे मिल कर, बडे उत्साह और नि स्वार्थ भाव से भाग ले रहे थे, जिससे वे न केवल एक दूसरे के और अधिक निकट आ गये थे, बल्कि उनका गृहस्थ-जीवन भी अधिक सार्थक और सुखमय हो गया था।

अब बलराज जैसे शून्य मे लटक गये थे। पर उन्होंने इस सदमे को बड़ी दृढ़ता और साहस के साथ बर्दाश्त किया। इसमे उन्हें सबसे अधिक सहायता मिली, अपने ध्येय के प्रति उनकी प्रतिबद्धता से जिसके साथ वह तन-मन से जुड़े हुए थे। अक्सर वह रात के समय घर से निकल जाते और समुद्र के किनारे देर तक देशभक्ति के गीत गाते रहते जिससे उनमे साहस और मनोबल का संचार होता रहता। अपने दिल को ढाढ़स बधा पाने और अपनी सहनशक्ति को और ज्यादा मजबूत बना पाने के लिए वह पहले से भी ज्यादा तनदेही के साथ अपने काम मे जुट गये।

अगस्त, 1947 में देश आजाद हुआ और साथ ही देश का बंटवारा भी हुआ। वातावरण मे तरह-तरह के तनाव पाये जाते थे। साम्प्रदायिक घृणा और वैमनस्य से वातावरण दूषित हो रहा था, अनेक नगर और गांव आग की नजर हो रहे थे, और इस जनून के कारण खून की नदिया बह रही थी, लाखो-लाख लोग यातनाए भोग रहे थे और बेघर हो रहे थे। साथ ही साथ वातावरण मे आह्लाद के स्वर भी गूंज रहे थे क्योंकि देश अततः आजाद हुआ था। हमारे अपने शहर रावलपिण्डी मे भी दगे हुए थे, और देहात मे दो सौ से अधिक गांव आगजनी का शिकार हो चुके थे। एक ओर उत्साह, दूसरी ओर चिन्ता, यातना, सभी साथ-साथ चल रहे थे। इसी समय पाकिस्तान से शरणार्थियो के काफिले भी चले आ रहे थे। बटवारे के समय बलराज बबई मे थे, उनके दोनो बच्चे माता जी के पास श्रीनगर मे थे जबकि हमारे पिता जी रावलपिण्डी में अकेले रह रहे थे। एक दूसरे के साथ संपर्क रख पाना कठिन हो गया था, और यातायात ठप्प हो गया था। इसके फौरन ही बाद पाकिस्तान से कबाइलियो ने काश्मीर पर हमला बोल दिया था जिससे स्थिति और अधिक गंभीर और

पेचीदा बन गयी थी । दमयन्ती के चले जाने से घर में गहरा अवसाद छा गया। उधर बटवारे के कारण पिता जी को गंभीर आर्थिक नुकसान पहुंचा था, जिससे घर की माली हालत पतली पड़ गयी थी ।

बलराज की जीवन-यात्रा में एक नया चरण आरंभ हुआ । आगामी वर्षों में उसे ऐसे विकट संघर्ष का सामना करना पड़ा जैसा उन्हें जीवन में पहले कभी नहीं करना पड़ा था ।

7. सिनेमा जगत

1944 में बंबई पहुंचने पर बलराज को पता चला था कि वित्तीय कारणो से चेतन आनंद की फिल्म स्थगित होती जा रही है और इस बात का डर है कि उसका निर्माण बहुत देर के लिए टल जाये, या सारी योजना ही ठप्प हो जाये। आर्थिक सहयोग ले पाने के लिए चेतन एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे थे पर उन्हें असाध्य कठिनाइयो का सामना करना पड़ रहा था। बलराज को लगा जैसे वह किसी अपरिचित स्थान मे निपट अकेले रह गये हो, जहां उन्हे जैसे भी हो अपना जीवन-निर्वाह करना है। सिने-अभिनेता बनने के सपने देखना एक बात थी, सिने-इंडस्ट्री में पांव जमा पाना बिल्कुल दूसरी बात। आर्थिक दृष्टि से भी बलराज की स्थिति अच्छी नही थी। बी. बी. सी. में अपनी नौकरी से जो थोड़ी-बहुत पूंजी वह बचा कर लाये थे, वह कोई बहुत बड़ी रकम नही थी। पिता जी से वित्तीय सहायता मांगने को उनका मन नही चाहता था, क्योंकि उन्हे लगता था कि उनका उतावली मे घर से निकल जाना और बंबई मे आ पहुंचना पिता जी को जरूर बुरा लगा होगा। इधर, देश का बटवारा हो जाने से पिता जी को बहुत नुकसान भी उठाना पड़ा था। बलराज का परिवार अब उनके साथ था, शबनम अभी केवल एक साल की थी और परीक्षित लगभग पांच वर्ष का था। उन कठिन दिनो मे चेतन ने एक सच्चे दोस्त की तरह उनका साथ दिया, बावजूद इस बात के कि चेतन की अपनी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नही थी, चेतन ने अपने कुछेक फिल्मी मित्रो से बलराज का परिचय कराया। पर विकट स्थिति से मूलतः बलराज को ही अकेले जूझना था, और इस तरह उनके जीवन मे संघर्ष का एक नया चरण आरंभ हुआ।

बलराज के लिए फिल्मी व्यवसाय अपनाना आसान नही था, उनके रास्ते में अनेक गंभीर रुकावटें थी। सबसे बड़ी अड़चन तो उनकी उम्र थी। वह 34

साल के हो चले थे और इस उम्र मे यह अपेक्षा नही की जा सकती थी कि उन्हें युवा हीरो के रोल मिल सकें। बबई मे उनकी सेहत भी गिर गयी थी और वह थके-थके और दुबले नजर आने लगे थे। इसके अतिरिक्त पैसे की तंगी थी और उन्ही के शब्दो मे "बबई ऐसा शहर नही है जहां सीमित साधनो वाला कलाकार पनप सके।

"थोड़े से पैसे जो मैं इगलैंड से लाया था, खत्म होते जा रहे थे। और पिता जी से पैसो के लिए अनुरोध नही करना चाहता था।"

आरभ के अपने फिल्मी दिनो को याद करते हुए उन्होंने एक बार, अपने एक पत्र मे मुझे लिखा था :

"मेरी सेहत इसलिए गिर गयी थी कि मुझे पैसे की चिन्ता सताती रहती थी। मेरा रहन-सहन बड़ा बेढ़गा-सा था। थोड़ा-सा भी पैसा कमा पाने के लिए उन दिनो मैंने क्या नहीं किया। ट्रेडर्स बैंक की एक शाखा का मैनेजर मेरा पुराना सहपाठी था। कभी-कभी वह मुझे बैंक से छोटे-मोटे कर्ज दे दिया करता था। एक बार मेरे नाम दो हजार रुपये निकलते थे। सहसा एक दिन मेरे मित्र को तबादले का आर्डर मिल गया। उसे महीने भर मे अपनी नयी जगह पर चले जाना था, और मेरा यह नैतिक कर्तव्य हो जाता था कि उसके जाने से पहले मैं अपना कर्ज अदा कर दूं। इस दायित्व को पूरा कर पाने के लिए जो कोशिशे मैंने की वे नाखूनो से कुआं खोदने के बराबर थी। मैं रेडियो-प्रोग्राम देने अथवा छोटे-मोटे अनुवाद-कार्य के अतिरिक्त कुछ भी तो नही कर सकता था। ऐसे कामों से मैं कितना धन कमा सकता था?"

बलराज भवनानी से जा मिले, जो कुछ मुद्दत पहले कश्मीर मे आये थे और बलराज को अपनी फिल्म मे एक रोल भी दे रहे थे। अबकी बार बंबई मे उन्होने बलराज को खाने पर तो बुलाया पर फिल्मो का जिक्र तक नही किया। उन्होंने इतना भर कहा कि बलराज का चेहरा अमरीकी अभिनेता गेरी कूपर से बहुत कुछ मिलने लगा है—जिस टिप्पणी को बलराज ने अपनी प्रशंसा समझा पर जिसका वास्तविक अभिप्राय यह था कि बलराज अब इतने दुबला गये हैं कि भारतीय फिल्मो मे हीरो के रोल मे उनका लिया जाना सभव नही जान पड़ता क्योकि भारतीय दर्शक ऐसे नायको को देखना ज्यादा पसद करते हैं जिनके चेहरे भरे-भरे और कुछ गोल-गोल हो। सिफारिशी चिट्ठियो, बलराज को दिये गये वचनो और आश्वासनो की भी ऐसी ही गति हुई। आरभ के उन दिनों में बलराज के लिए फिल्मी दुनिया मे अपने लिए मामूली-सी जगह बना पाना भी टेढ़ी खीर साबित हो रहा था। बहुत बरस बाद बलराज ने लिखा :

"फिल्मो मे काम हासिल करने का मतलब था कि आप सुबह से शाम तक प्रोड्यूसरों के दफ्तरो की सीढ़ियां बीसियो बार चढ़ते और उतरते रहिये और कही से भी आपको पक्का जवाब न मिले।"

चेतन, बलराज की स्थिति को भांप गये थे इसलिए फौरन ही उन्होंने एक जाने-माने प्रोड्यूसर-निर्देशक, फनी मजुमदार से बात की कि वह अपनी कुछेक फिल्मों में बलराज को जगह दे। "न्याय" (Justice) नाम की एक फिल्म फनी मजुमदार के कार्यक्रम मे थी और उसके लिए उन्होंने बलराज को आजमाना चाहा।

फिल्मी दुनिया का पहला अनुभव बलराज के लिए अविस्मरणीय साबित हुआ। उन्हें मेक-अप के लिए एक ऐसे कक्ष में भेजा गया जहां 'एक्स्ट्रा' अभिनेताओं का मेक-अप किया जाता था। बलराज के अपने शब्दो मे :

"मुझे एक बड़े-से कमरे मे ले जाया गया जहां बहुत से पुरुष बैठे मेक-अप करवा रहे थे। मुझे मालूम नहीं था कि वे 'एक्स्ट्रा' हैं। अगर मुझे मालूम भी होता तो इससे कोई फर्क पड़ने वाला नही था क्योंकि उस वक़्त तक मुझे यह भी मालूम नही था कि एक्स्ट्रा कहते किसे हैं।...शीघ्र ही मैं उनके साथ बतियाने लगा। वे बढ़िया कपड़े पहन कर आये थे क्योंकि उन्हे एक चाय-पार्टी के दृश्य में भाग लेना था। जब उन्हे पता चला कि मैं कुछ ही मुद्दत पहले इंगलैण्ड से लौटा हूं तो वे मेरे साथ बड़ी इज्जत और आदर-भाव से पेश आने लगे। उनकी बातों से लग रहा था कि वे साधारण लोग नही हैं। उनमें से एक ने मुझे बताया कि शहर में उसकी फर्नीचर की चार दुकानें हैं, कि वह केवल मन-बहलाव के लिए कभी-कभी स्टूडियो मे चला आता है, कि वह स्वयं एक फिल्म बनाने की सोच रहा है जिसमे वह मुझे खलनायक की भूमिका में रखना चाहेगा क्योंकि शक्ल-सूरत से मैं बिल्कुल एक अंग्रेज खल-नायक जैसा नजर आता हूं।

"वही आदमी नहीं, कमरे में बैठे सभी लोग किसी न किसी दिन अपनी फिल्म बनाने के सपने देख रहे थे। प्रत्येक व्यक्ति के जेब मे कोई न कोई कहानी थी, जिसे उसने खुद लिखा था, हर कोई यही कहता था कि बड़े-बड़े सिने-अभिनेताओं के साथ उसके निकट के दोस्ताना संबध हैं और उनमे से कुछेक ने उसकी फिल्म मे काम करना भी मजूर कर लिया है।...उनमे से एक असलम नाम का आदमी बडी विनम्रता से धीमी आवाज़ मे बात करता था। शीघ्र ही उसने फ़नी दा की बुराई करनी शुरू कर दी। वह कहने लगा कि अपनी एक फिल्म मे फ़नी दा ने उसे एक छोटा-सा पार्ट दिया था, साथ ही इस बात का इकरार भी किया था कि अपनी अगली फिल्म मे वह उसे बड़ा रोल देंगे, और उसके बाद की फिल्म में उसे हीरो का रोल देंगे। इन आश्वासनो को ध्यान मे रखते हुए उसे इस फिल्म मे—जो इस समय बनायी जा रही थी—हीरो का रोल करना चाहिए था। पर ऐसा कुछ नही हुआ। इसके विपरीत,

वह फिल्म-स्टूडियो के आस-पास मंडराता रह गया था, और अब, और 'एक्स्ट्रा' लोगों के साथ इस कमरे में उसे ठूंस दिया गया है। यह कहते हुए असलम की आखों में से आंसू बहने लगे। मुझे सहसा याद आया कि बिलकुल ऐसा ही वचन फ़नी दा ने मुझे भी दिया है।"

उस दिन की घटनाओं का ब्यौरा देते हुए बलराज लिखते हैं :

"रिहर्सल के समय मुझे लगा जैसे मेरे जबड़े सूखे चमड़े की तरह अकड़ते जा रहे हैं, और नरम होने का नाम नहीं लेते। मेरी आवाज भी धीमी पड़ गयी थी और मुश्किल से सुनाई पड़ रही थी। मैं सोच रहा था कि फ़नी दा मेरे काम से बड़े असंतुष्ट होंगे। पर, इसके विपरीत वह चहक कर बोले, "बहुत बढ़िया। वाह, वाह, ओ. के.!" इस पर कुछ लोगों ने तालियां बजायीं, कुछ ने सीटियां बजायीं, कुछ और लोग मेरे पास आये और मेरे साथ हाथ मिलाया और मुझे मुबारकबाद दी, क्योंकि फिल्मों में मेरा यह पहला 'क्लोज-अप' था। फ़नी दा ने मेरे हिसाब में रसगुल्ले मंगवाये और सभी लोगों में बांटे। हर कोई मेरे काम की तारीफ़ कर रहा था। बात मेरी समझ में नहीं आ रही थी। *मैं जानता था कि यह झूठी प्रशंसा है। पर फिर, ये लोग क्यों* मेरी झूठी तारीफ कर रहे थे?

"फिल्मी दुनिया का यह एक ऐसा रहस्य है जिसे बाहर के लोग केवल धीरे-धीरे ही समझ पाते हैं।

"हां, यह झूठी प्रशंसा थी। फिल्मी दुनिया में कोई आदमी दूसरे से सच नहीं बोलता। सभी, मुंह पर उसकी तारीफ करते हैं और पीठ पीछे उसकी बुराई करते हैं। बाहर के लोगों को यह बड़ी कमीनी हरकत लगता होगा। पर अंदर के लोगों के लिए यह बहुत बड़ी हौसला-अफजाई होती है। फिल्मी दुनिया में मानसिक स्तर पर कोई भी सुरक्षित महसूस नहीं करता। सभी आत्म-प्रवंचना के बल पर जीते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने सपनों के बुलबुले के अंदर जीता है। कोई भी दूसरे के सपनों के बुलबुले को फोड़ना नहीं चाहता। इस तरह यह एक दूसरे के प्रति सद्भावना जताने का एक तरीका है। फ़र्ज़ किया उनमें से एक मेरे पास आता और दो-टूक शब्दों में मेरे काम पर सही-सही टिप्पणी करता, तो ऐन मुमकिन था कि मेरा रहा-सहा आत्म-विश्वास भी टूट जाता और दूसरे दिन मुझसे कोई काम ही नहीं हो पाता।"

बाद में एक 'शॉट' में बलराज को फिल्म की प्रधान अभिनेत्री, स्नेहलता के साथ अभिनय करना था, पर उसने 'इस नये रंगरूट' के साथ रिहर्सल करने से साफ इन्कार कर दिया। "जब 'शॉट' लिया गया तो वह मेरे साथ वार्तालाप तो करती थी पर मेरी ओर आंख उठा कर देखती नहीं थी, उसकी आंखें सारा

वक्त कैमरे पर लगी रही। 'शॉट' के दौरान सारा वक्त वह मुझे ऐसा महसूस कराती रही मानो मुझे कोई भयानक बीमारी हो, और वह मुझे अपने से दूर रखना चाहती हो।"

इस अनुभव को याद करते हुए, बलराज ने लिखा :

"मैंने सोचा था कि फिल्मी दुनिया में 'ऊंच' और 'नीच' की दीवारें नहीं होती होंगी। यह मेरी बहुत बड़ी खाम-ख्याली थी। फिल्मी दुनिया में तो चप्पे-चप्पे पर दीवारें हैं। सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में ये दीवार ईंट-गारे की बनी हो सकती हैं, पर हिन्दी फिल्मों की दुनिया में तो ये दीवारें अष्ठधातु की बनी होती हैं।"

बलराज को फिल्मी दुनिया में केवल कैमरे के सामने अभिनय करने का ही पहला अनुभव नहीं हुआ था, उन्हें आत्म-प्रवंचना से भरे उस जीवन की भी एक झलक मिल गयी थी।

जब फ़नी मजुमदार की फिल्म "न्याय" ("जस्टिस") पूरी हुई तो उसे देख पाने के लिए बलराज को एक प्राइवेट-शो पर आमंत्रित किया गया। "जब पर्दे पर मैंने अपना 'क्लोज़-अप' देखा तो मुझे लगा जैसे मेरे सिर पर एक बड़ा-सा पत्थर आ गिरा है। मेरा चेहरा एक लाश के चेहरे जैसा लग रहा था। मेक-अप से वह और भी ज्यादा भौंडा नज़र आ रहा था। मैंने कभी नहीं सोचा था कि मेरा चेहरा इतना भयानक लग सकता है।"

परन्तु फनी मजूमदार अपने वचन के धनी निकले और बलराज को उन्होंने अपनी अगली फिल्म 'दूर चलें' में भी एक महत्वपूर्ण रोल दे दिया।

रोल ले पाना इतना कठिन नहीं था, जितना फिल्मी कैमरे के सामने अभिनय करना। बलराज ने रंगमच का अच्छा-खासा अनुभव ग्रहण किया था, साथ ही एनाउंसर के नाते बी. बी. सी. में भी उन्हें पर्याप्त प्रशिक्षण मिल चुका था। माइक्रोफोन पर स्वाभाविक ढंग से बोलने की कला में जिसमें, बोलते समय कहां रुकना चाहिए, किस तरह शब्दों पर बल देना चाहिए, कहां आवाज़ में उतार-चढ़ाव लाना चाहिए, इस कला में उन्होंने जो प्रशिक्षण ग्रहण किया था वह बाद में उनके बड़ा काम आने वाला था। साथ ही यथार्थवादी रंगमंच के साथ भी उनका निकट का संपर्क रहा था, भारत में भी और बाद में इगलैण्ड में भी, जिसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि मंच पर अभिनेता की भाव-भंगिमा और एक-एक हरकत स्वाभाविक हो। इसके विपरीत, भारतीय रंगमंच पर, पारसी थियेटर की परंपरा में, बड़े हाथ-पाव मार कर, उछल-उछल कर अभिनय किया जाता था, और वाक्य इस ढंग से बोले जाते थे मानो कोई भाषण दिया जा रहा हो। यथार्थवादी रंगमंच के अनुभव से भी बलराज को

एक सिने-कलाकार के नाते बहुत लाभ मिलने वाला था। परन्तु अभी उसका वक्त नही आया था। फिल्मो मे अपने पैर जमा पाने के लिए और साथ ही अभिनय की कला मे महारत हासिल कर पाने के लिए, अगले कुछ साल तक बलराज का संघर्ष बहुत कड़ा और यातनापूर्ण साबित हुआ।

"कैमरे के सामने जाना मेरे लिए फांसी के तख्ते पर चढ़ने के बराबर था। मैं अपने को संयत रख पाने की बहुत कोशिश करता। कभी-कभी रिहर्सल भी सही हो जाते। आस-पास के लोग मेरा हौसला भी बढ़ाते। पर 'शॉट' के ऐन बीचोबीच कुछ ऐसा घट जाता कि मेरे हाथो के तोते उड़ जाते, शरीर का एक-एक अंग अकड़ जाता, और जीभ मानो हलक के नीचे उतर जाती। तदनन्तर, एक के बाद एक 'रि-टेक" लिए जाते। मुझे लगता जैसे आस-पास खड़े सभी लोग मुझे घूर-घूर कर देख रहे है। मैं बेहद कोशिश करता कि उस ओर से ध्यान हटा लू और केवल अपनी भूमिका तथा अभिनय पर ध्यान केन्द्रित करूं पर हर बात गड़बड़ा जाती और मुझे लगता जैसे अभिनय-कला के दरवाजे मेरे सामने सदासदा के लिए बंद कर दिये गये हैं।"

यह स्थिति काफी देर तक रही। साल दो साल बाद, किसी दूसरी फिल्म के संदर्भ मे लिखते हुए बलराज ने बड़े बेलाग ढंग से लिखा है :

"जब 'हम लोग' की शूटिंग चलने लगी तो मेरी हालत बड़ी खस्ता थी। कैमरे का डर, जो सदा मुझे 'छाती पर खड़े पहाड़' जैसा लगता था, मेरे लिए असह्य हो गया। अनवर हुसैन मेरे साथ अभिनय कर रहा था। उसे अभिनय करते देख कर मेरा रहा-सहा आत्मविश्वास भी काफूर हो जाता, और मेरे हाथ-पांव फूल जाते। 'शॉट' को तो बात दूर रही, मैं तो रिहर्सल भी ठीक तरह से नहीं कर पा रहा था। मेरी स्थिति का अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि एक बार जब मैं कुछ देर के लिए सांस ले पाने के लिए स्टूडियो के बाहर निकला और एक बेंच पर जाकर लेटने लगा तो पतलून मे मेरा पेशाब निकल गया।"

'न्याय' (जस्टिस) के बाद दूसरी फिल्म 'दूर चले' थी जिसमे फ़नी मजूमदार ने बलराज को कान्ट्रैक्ट दिया था। फिल्म मे हीरो के रोल मे कमल कपूर थे और हीरोइन की भूमिका में नसीम जूनियर थी, जबकि बलराज को एक छोटा किन्तु महत्वपूर्ण रोल दिया गया था। इस फिल्म में दमयन्ती को भी एक महत्वपूर्ण भूमिका दी गयी थी। इस फिल्म की शूटिंग के दिनों मे ही बलराज इप्टा की सरगर्मियो की ओर खिचे चले गये थे।

उसके बाद बलराज अपना ज्यादा वक्त और ऊर्जा इप्टा के काम मे लगाने लगे थे। फिर भी, फिल्मों में उनका संघर्ष अनवरत रूप से चलता रहा। 'दूर

चलें' के बाद 'गुड़िया' बनी, जो इब्सन के प्रसिद्ध नाटक "डॉल्स हाउस' पर आधारित थी। इसके प्रोड्यूसर रजनीकान्त पाण्डेय थे और फिल्म का निर्देशन अच्युत राव रानाडे ने किया था। प्रमुख भूमिकाओं में बलराज और दमयन्ती को रखा गया था।

इस नई फिल्म की शूटिंग से पहले बलराज और दमयन्ती को इप्टा की प्रसिद्ध फिल्म 'धरती के लाल' में अभिनय करने का अमूल्य अनुभव प्राप्त हो चुका था जिसके लेखक तथा निर्देशक ख्वाजा अहमद अब्बास थे। बलराज उसके निर्माण से भी सम्बद्ध रहे थे, जिससे फिल्म-निर्माण के तकनीकी पहलुओं से और भी ज्यादा नजदीक से जानकारी हासिल करने का उन्हें सुअवसर मिला था। अनेक त्रुटियों के बावजूद 'धरती के लाल' ने नई जमीन तैयार की थी जिसे बाद में विमल रॉय और सत्यजित रे ने विकसित किया था। उस फिल्म में बलराज का अपना काम भी बढ़िया रहा था। धीरे-धीरे उनकी 'जकड़न' कम हो रही थी और अभिनय में स्वाभाविकता आ रही थी, पर इसे हासिल कर पाना आसान नहीं रहा था। फिल्मी दुनिया की यथार्थ भयावह स्थिति का वह बराबर सामना करते रहे, और तरह-तरह की विकट परिस्थितियों में से गुजरते रहे। एक ओर जहां वह हताश और हतोत्साह होते, दूसरी ओर उनका निश्चय और भी दृढ होता जाता कि जिस क्षेत्र में वह अनायास ही चले आये थे, उसमें कामयाबी हासिल करके रहेंगे।

वह अपनी 'जकड़न' को कैसे दूर कर पायें ? अपने आत्मविश्वास को मजबूत कर पाने के लिए वह तरह-तरह के उपाय करते रहते। स्टूडियो में जब कभी अंदर ही अंदर उनका आत्मविश्वास टूटने लगता, वह अपने को समझाते हुए कहते, 'ये लोग जानते ही क्या हैं ? मैं इन्हें दिखा दूंगा कि बढ़िया अभिनय किसे कहते हैं।' एक उपाय तो यह था। दूसरा उपाय था कि स्टूडियो में वह किसी ओर भी आंख उठा कर नहीं देखते, और कैमरे के सामने खड़े होने पर किसी बहुत ही प्रिय और सुंदर चीज की कल्पना करने लगते, जैसे अपनी छोटी बच्ची के चेहरे की, किसी खिली फुलवाड़ी की, अथवा किसी सुंदर प्राकृतिक दृश्य की जिससे उनका मन खिल उठे। कभी-कभी वह अपने अंदर सच्चा नैतिक आक्रोश जगा पाने की चेष्टा करते, अपने आत्मविश्वास को मजबूत कर पाने के लिए अपने अंदर विरोध की भावना को उकसाने की कोशिश करते। साथ ही, सेट पर वह अन्य अभिनेताओं की भाव-भंगिमा का ध्यान से अध्ययन करते और 'स्वाभाविक अभिनय' का रहस्य जान पाने की कोशिश करते।

"दूर चलें" की शूटिंग के दिनों को याद करते हुए, बलराज ने लिखा :

"मैंने देखा कि 'शॉट' लिए जाने से पहले आगा हमारे साथ बड़े सामान्य

ढंग से बतिया रहे होते, पर ज्यों ही कैमरा चलने लगता वह बड़ी अजीब तरह से, पागलों की तरह व्यवहार करने लगते। वह तरह-तरह की अजीब हरकतें करने लगते। मैं इन हरकतों को बेवकूफाना तमाशबीनी कह कर इनकी ओर कोई ध्यान नहीं देता था। मैं समझता था कि आगा मसखरी कर रहे हैं, जरूरत से ज्यादा हाथ-पांव चला रहे हैं। जिसे मैं भारतीय फिल्मों का बहुत बड़ा दोष मानता था। 'शॉट' के बाद जब सभी लोग उनके अभिनय पर वाह-वाह करने लगते तो मेरे मन में बड़ी खीझ उठती। मैं सोचता कि वास्तव में तारीफ तो मेरी की जानी चाहिए थी क्योंकि मेरा अभिनय बड़ा संयत और स्वाभाविक रहा था। . ज्यों ही 'शॉट' लिया जाने लगता, आगा अपनी भूमिका में 'प्रवेश' कर जाते। और जब 'शॉट' लिया जा चुकता तो वह उसमें से बाहर निकल आते और फिर से आगा बन जाते। मैंने इसके संबंध में कहीं पढ़ा जरूर था पर मैं उसे आत्मसात् नहीं कर पाया था। कैमरे के सामने जो कुछ मैं कर रहा था उसे अभिनय का नाम ही नहीं दिया जा सकता था।"

"हलचल" नाम की दूसरी फिल्म के बारे में, जिसमें वह दिलीप कुमार और नरगिस के साथ अभिनय कर रहे थे, उन्होंने लिखा .

" 'शॉट' के कुछेक क्षण पहले तक दिलीप और नरगिस बैठे बतिया रहे होते। पर ज्यों ही 'शॉट' आरंभ होता, दोनों अपने-अपने रोल में 'दाखिल' हो जाते, जबकि मैं अपने रोल के बाहर बना रहता। मैं भी स्वाभाविक ढंग से अभिनय करने की कोशिश करता, पर मैं नहीं जानता था कि स्वाभाविक बन पाने का मतलब है अपने रोल में 'दाखिल' होकर स्वाभाविक होना। और रोल में 'दाखिल' हो पाने के लिए, एक मानसिक क्रिया की जरूरत होती है। मुझे इस मानसिक क्रिया की जानकारी नहीं थी। इसी कारण मैं यही समझे बैठा था कि मैं तो स्वाभाविक ढंग से अभिनय कर रहा हूं जबकि दिलीप और नरगिस अस्वाभाविक हो रहे हैं। वास्तविकता इसके बिलकुल उलट थी।"

बलराज अन्य अभिनेताओं से भी मशविरा करते, और दूसरों से सीख लेने का गुण केवल एक सच्चे कलाकार में ही पाया जाता है। डेविड के साथ एक फिल्म में भाग लेते हुए उन्होंने उनसे पूछा कि आपको अपनी पंक्तियां कैसे याद रह जाती हैं, जबकि मैं बार-बार उन्हें भूलता रहता हूं।

"डेविड ने बड़े प्यार से मुझे समझाया : वाक्य में प्रत्येक शब्द के पीछे एक तस्वीर होती है। दूसरे शब्दों में, यदि कल्पना में तुम उस वाक्य को देखने की चेष्टा करो, तो तुम्हारी आंखों के सामने एक चित्र-माला उभर आयेगी। बोलते हुए जब तुम इस चित्र-माला को ध्यान में रखोगे तो तुम्हें अपनी पंक्तियां कभी नहीं भूलेंगी।"

'गुड़िया' फिल्म बन चुकने के कुछ ही दिन बाद 29 अप्रैल, 1947 को दमयन्ती चल बसी थी। बलराज के लिए जैसे दुनिया ही बदल गयी थी।

बलराज, बंबई में 1944 की गर्मियों में आये थे। केवल तीन साल का समय बीत पाया था। पर ये वर्ष धुआंधार सरगर्मियों के वर्ष रहे थे, एक स्तर पर अदम्य उत्साह गहरी सामाजिक प्रतिबद्धता, नाना प्रकार के अनुभव, दूसरे स्तर पर अभाव, संघर्ष, घोर यातना और पीड़ा।

दम्मो की मृत्यु के शीघ्र ही बाद, बलराज अपने दोनों बच्चों को साथ लेकर पहले रावलपिण्डी और वहां से श्रीनगर चले गये। रावलपिण्डी का दृश्य-चित्र अब पहले जैसा नहीं रहा था। कुछ ही देर पहले वहां पर भयानक साम्प्रदायिक दंगे हुए थे, और अब चारों ओर वीरानी-सी छायी थी। उस जिले के लगभग दो सौ गांव आग की नजर हुए थे, और रावलपिण्डी शहर की सड़कों पर, इन्हीं गांवों से आने वाले शरणार्थी बौराये से घूम रहे थे। धीरे-धीरे पंजाब के सभी भागों से शरणार्थियों के काफिले, प्रदेश में से निकल-निकल कर अमृतसर और दिल्ली की ओर बढ़ने लगे थे। पंजाब के अनेक नगरों में अभी भी आग के शोले उठ रहे थे। पाकिस्तान की स्थापना के बारे में सिद्धांततः, निर्णय किया जा चुका था। अधिकांशतः लोग भौंचक्के से थे, और समझ नहीं पा रहे थे कि वे अपने-अपने घरों में बने रहें या उन्हें छोड़ कर अन्यत्र चले जायें।

श्रीनगर में, तुलनात्मक दृष्टि से, तनाव बहुत कम था। पर यहां भी वातावरण में अनिश्चय डोल रहा था।

बलराज की अपनी मानसिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। दम्मो के चले जाने के दुःख के साथ उन्हें यह बात अंदर ही अंदर कचोटती रहती थी कि दम्मो की मृत्यु के लिए वही दोषी हैं। इस संबंध में, बड़े बेबाक ढंग से, जो उनके स्वभाव के अनुरूप ही था, उन्होंने लिखा :

"दमयंती ने अपने लिए कभी कुछ नहीं मांगा था। वह अपने सीधे-सादे कपड़ों में ही, अपनी सलवार-कमीज में ही संतुष्ट थी। जहां जाती थी, मानो रोशनी बिखेरती हुई जाती थी। एक उभरती हुई सिने-अभिनेत्री के नाते वह हजारों रुपये कमा रही थी, पर अपनी कमाई का अधिकांश भाग वह सामाजिक कार्यों के लिए खुले आम दे डालती थी, और स्वयं बसों में धक्के खाती फिरती थी।

"उस समय मेरा यह कर्तव्य था कि मैं उसका साथ देता, एक कलाकार के नाते, उसके गुणों की कद्र करता, और उस पर तुच्छ घरेलू काम का बोझ नहीं डालता। पर अपनी कृपणता में मैं उसकी ख्याति और सफलता से लगभग ईर्ष्या करने लगा था। स्टूडियो से वह थककर लौटती और मैं उसे घर के

कामों में लगा देना चाहता। पुरुष के नाते अपनी श्रेष्ठता दिखाने के लिए मैं इप्टा के अनावश्यक काम अपने ऊपर से लेता। पर दम्मो, शिकायत का एक लफ्ज भी मुंह से नहीं निकालती थी। वह काम का इतना बड़ा बोझ उठाये हुए थी, जिसे बर्दाश्त कर पाने की उसमें ताकत नहीं थी। इन बातों को याद करके मेरा मन बड़ा दुःखी होता है। दम्मो एक बेशकीमत हीरा थी, जो एक ऐसे कुपात्र को सौंप दिया गया था, जो उसकी कीमत नहीं जानता था और उसे मिल जाने पर जिसके मन में कृतज्ञता का भाव नहीं उठता था।"

श्रीनगर में अपने निवास के दिनों में ही बलराज को 'गुंजन' नाम की एक फिल्म में, जिसकी कहानी हिन्दी के जाने-माने लेखक, अमृतलाल नागर ने लिखी थी, नायक की भूमिका में अभिनय करने का निमंत्रण मिला। जुलाई, 1947 को, बच्चों को परिवार के पास छोड़ कर, बलराज फिर से बंबई के लिए रवाना हो गये।

फिल्म में उन्हें नलिनी जयवंत और त्रिलोक कपूर के साथ अभिनय करना था, और फिल्म का निर्देशन नलिनी जयवंत के पति वीरेन्द्र देसाई कर रहे थे। बंबई में पहुंचने पर उन्हें पता चला कि फिल्म में उनकी भूमिका वास्तव में एक नायक की भूमिका नहीं थी, उस फिल्म में दरअसल दो नायक थे, और उनमें से एक की भूमिका में बलराज को रखा गया था।

फिल्म नाकामयाब रही। बलराज के आत्म-विश्वास को एक बार फिर गहरी चोट लगी।

"चरित्र-अभिनय के एक पक्ष का संबंध मनःस्थिति से होता है, जिसकी मुझे कोई जानकारी नहीं थी, न ही उसे जानने की मुझे अभी तक जरूरत महसूस हुई थी। इससे पहले अक्सर कैमरे के सामने खड़े होने पर मेरे हाथ-पांव फूल जाते थे और अंग-अंग में जकड़न महसूस करने लगती थी। पर मेरा रवैया उस रोगी का-सा था, जो समय रहते डाक्टर के पास जाने के बजाय, अपनी बीमारी छिपाता फिरता है, इस उम्मीद पर कि किसी न किसी दिन रोग अपने आप ठीक हो जायेगा।"

इप्टा के साथ भी बलराज का लगाव बराबर बना रहा। परन्तु इस समय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा राष्ट्र की स्थिति के मूल्यांकन में तथा पार्टी की नीति में आमूल परिवर्तन हुआ। पार्टी ने नेहरू सरकार के साथ सीधी टक्कर लेने की नीति अपनायी। इस नयी नीति का इप्टा के कार्यकलाप पर भी गहरा असर पड़ा। इप्टा, कम्युनिस्ट संस्था नहीं थी, उसके सदस्य वामपंथी तथा वामपंथी रुझान वाले जनवादी लेखक तथा कलाकार थे, फिर भी उसकी सरगर्मियों में सबसे ज्यादा पहलकदमी कम्युनिस्ट पार्टी ने ही की थी। इप्टा द्वारा प्रस्तुत

बलराज, संतोष और सनोवर के साथ 1953 मे एक राजनैतिक कैदी के रूप में बंबई कारावास से रिहाई के बाद

बलराज अपने पुत्र परीक्षित के साथ "पवित्र पापी" मे

दमयंती, अमृता
शेरगिल के साथ

बलराज और दमयंती
"धरती के लाल" फिल्म के
एक दृश्य में
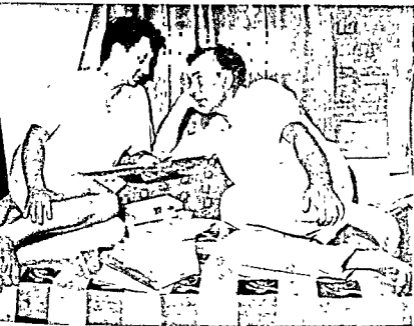
लेखक अपने भाई बलराज के साथ

बलराज और निरुपा राय फिल्म "दो बीघा जमीन में"

बलराज के पिता
श्री हरवंसलाल साहनी

बलराज की माता
श्रीमती लक्ष्मी देवी

किये जाने वाले कार्यक्रमों मे सरकार की उत्तरोत्तर कटु आलोचना की जाने लगी। दूसरी ओर, सरकार की नीति भी अधिकाधिक दमनकारी होने लगी। इप्टा के बहुत से पुराने कार्यकर्ता इस नीति से सहमत नही थे और धीरे-धीरे इप्टा से किनारा करने लगे थे। इप्टा के भीतरी संचालकों का नजरिया भी संकीर्ण होने लगा, और 'दक्षिणपंथी सुधारवाद' के नाम पर कुछेक कार्यकर्ताओं को संस्था में से बाहर निकालने मे भी उन्होंने संकोच नही किया। इप्टा की मण्डलियों की ताकत क्षीण होती गयी और जन-साधारण के सामने अपने अभिनय प्रस्तुत करने में भी उन्हें दिक्कतें पेश आने लगी क्योंकि पुलिस सारा वक्त उनका पीछा किये रहती थी। परन्तु बलराज, 1949 तक, जब तक कि उन्हें गिरफ्तार नहीं कर लिया गया, इप्टा की सरगर्मियों के साथ सक्रिय रूप से जुड़े रहे।

दम्मों की मृत्यु के लगभग दो वर्ष बाद, मार्च, 1949 में बलराज का विवाह संतोष के साथ हुआ। अपने एकाकीपन और यातना के दिनों में उसका ध्यान बरबस संतोष की ओर जाने लगा था और लड़कपन का प्यार फिर से प्रबल हो उठा था। लड़कपन के दिनों में जिसे 'जनून' का नाम दिया गया था, वह वास्तव में कभी पूर्ण रूप से दब नहीं पाया था। दम्मों के साथ विवाह के बाद भी वह प्रेम कभी-कभी सिर उठाता रहा था जिससे मानसिक और भावनात्मक स्तर पर बलराज विचलित होते रहते थे। परन्तु यह स्थिति ज्यादा देर तक नही रहती थी, क्योंकि दम्मों और बलराज का परस्पर प्रेम, एक दूसरे के प्रति आदर-भाव और दृष्टि की समानता, विवाहित जीवन मे उत्तरोत्तर पनपते रहे थे। पर अब बलराज अकेले थे और उनका जीवन बिना पतवार के बहने वाली नौका के समान था। संतोष उन दिनों इंगलैंड में थी। बलराज के आग्रह और अनुरोध पर, वह इंगलैंड से लौट आयी। संतोष और बलराज का विवाह; दोनों परिवारों के बुजुर्गों को नागवार गुजरा, क्योंकि हिन्दुओं में सगी बुआ की बेटी के साथ विवाह को अच्छा नही समझा जाता।

उन्ही दिनों बलराज ने के. आसिफ के साथ "हलचल" नामक फिल्म के लिए एक अनुबंध पर हस्ताक्षर किये थे, जिसमें अभिनेताओं की सूची में बलराज के अतिरिक्त दिलीप कुमार और नरगिस के नाम थे। इस फिल्म मे बलराज को एक जेलर की भूमिका में काम करना था, जो कहानी मे हीरोइन का पति है। भाग्य की विडम्बना, कि फिल्म का निर्देशक, बलराज को एक दिन बंबई के आर्थर रोड जेलखाने मे ले गया ताकि बलराज जेल की जिन्दगी से तथा जेलर के दायित्वों आदि से सीधा परिचय प्राप्त कर सकें। इसके शीघ्र ही बाद एक प्रदर्शन में भाग लेते हुए बलराज गिरफ्तार कर लिये गये और इसी जेलखाने

में डाल दिये गये जहां वह जेलर की भूमिका मे जानकारी हासिल करने गये थे। जेलखाने का जेलर जिनसे बलराज आसिफ के साथ मिल चुके थे, बलराज को कैदी की वर्दी मे बड़ा घूर-घूर कर देखता और फिर सिर हिला कर कहता, "मुझे लगता है, मैंने तुम्हें कहीं देखा है।"

बलराज के जेल में डाल दिये जाने के कारण फिल्म की शूटिंग में बाधा पड़ गयी। पर ऐसा इन्तजाम कर लिया गया कि बलराज को शूटिंग के दिनों मे पेरोल पर जेलखाने से ले जाया जा सके और वह अपना पार्ट अदा कर सकें।

बलराज की गिरफ्तारी उनके विवाह के दसेक दिन बाद ही हो गयी थी। घर की हालत अच्छी नहीं थी। परिवार के अधिकांश सदस्य दिल्ली मे रहने लगे थे, जहां पिताजी ने शरणार्थियो की एक बस्ती मे छोटा-सा मकान खरीद लिया था। बलराज के बच्चे अभी बहुत छोटे थे, परीक्षित नौ साल का था और नन्ही शबनम मुश्किल से पांच बरस की थी। घर मे जमा-पूंजी न के बराबर थी जिस पर आड़े दिनों में निर्वाह किया जा सके।

उन दिनों बलराज के मन पर तरह-तरह के बोझ सवार थे। जेलखाने में उन्होंने अपने को राजनीतिक कैदियों के बीच पाया, जबकि निपट राजनीतिक स्तर पर चलने वाले संघर्ष का बलराज को कोई अनुभव नही था। बहुत-सी बातों के बारे मे उनकी सूझ काम नही करती थी। उधर घर से कोई खबर नही मिल रही थी संतोष अकेली थी और बड़े साहस के साथ जैसे-तैसे स्थिति का सामना किये जा रही थी। पैसे की तंगी के कारण यह और भी कठिन हो गया था। किसी-किसी दिन, जब बलराज पेरोल पर शूटिंग के लिए लाये जाते तो नरगिस की मां ऐसा इन्तजाम कर देती कि संतोष भी वहा पहुंच जाये और दोनों एक-दूसरे से मिल सकें। बस, इतना ही संपर्क बलराज का अपने परिवार के साथ बन पाया था। उधर फिल्म में जेलर की भूमिका में अपने अभिनय से भी बलराज संतुष्ट नहीं थे।

छः महीने के कारावास के बाद, बलराज बाहर आये। घर लौटने पर उन्होंने पाया कि घर की स्थिति पहले से भी ज्यादा चिन्ताजनक हो गयी है। इप्टा का संगठन टूट-फूट गया है। घर की माली हालत बड़ी शोचनीय हो चली है और फिल्मों में अपनी जगह बना पाने की बात अभी भी उतनी ही मुश्किल है जितनी पहले रही थी। उन्हें कभी-कभी लगता कि वह नये सिरे से काम करने निकले हैं। क्या ऐसा करने मे कोई लाभ होगा?

"बंबई के इस मनहूस शहर मे मैं फिर से क्यो लौट आया था। मैं क्यों न पंजाब में लौट जाऊं और अपने लोगों के बीच जाकर रहूं? मैं यहा पर कर ही क्या रहा हूं? पर फिर इस बात की भी क्या गारंटी है कि वहां पर स्थिति

बेहतर होगी। मुझे आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होना चाहिए। अपने काम में निपुणता हासिल करनी चाहिए। मुझे ज्यादा मेहनत करनी चाहिए। फिल्मी काम में मुझे आंतरिक सुख नहीं मिलता, पर अभिनेता के नाते मुझे कामयाबी का मुंह देखना होगा। यह बेहद जरूरी है। पंजाब में वापिस लौट जाने का सवाल ही नहीं उठता।"

उनकी आर्थिक कठिनाइयों की जानकारी एक छोटी-सी हृदय-विदारक घटना से मिल जाती है। दीपावली से एक दिन पहले जब बलराज घर लौटकर आये तो उनके कानों में उस वार्तालाप के कुछ अंश पड़े जो उनके दोनों बच्चों के बीच चल रहा था। परीक्षित, अपनी छोटी बहन शबनम से कह रहा था :

"ये पटाखे-फुलझड़ियां कितनी फिजूल सी चीज है। लोग यों ही इन पर पैसे बर्बाद करते हैं।"

बच्चों को घर की स्थिति का भान हो गया था। इस छोटे-से वाक्य ने ही, जो अनायास ही बलराज के कानों में पड़ गया था, बलराज के दिल को मथ डाला। बलराज उन्हीं कदमों लौट पड़े एक मित्र के पास से कुछ पैसे उधार लिये और बच्चों के लिए पटाखे और मिठाई खरीद लाये।

धन कमा पाने के लिए बलराज को तरह-तरह के छोटे-मोटे काम करने पड़ रहे थे। संतोष के साथ मिल कर उन्होंने एक रूसी फिल्म के संवाद हिन्दुस्तानी भाषा में "डब" किये। चेतन आनंद की अगली फिल्म के लिए उन्होंने कथा और संवाद लिखे, जो बाद में 'बाजी' के नाम से मशहूर हुई। "हलचल" फिल्म में ही नन्हें परीक्षित को भी एक बच्चे का रोल दिया गया जो हीरो के बचपन के दिनों को चित्रित करता है। परीक्षित को नितिन बोस की 'दीदार' नामक फिल्म में भी रोल दिया गया, जिसे बलराज ने बड़े संकोच के साथ स्वीकार किया था।

"हलचल" के फौरन ही बाद बलराज को जिया सरहदी की फिल्म 'हम लोग' में एक रोल मिला, जिसमें उन्हें निम्न मध्यमवर्ग के एक बेरोजगार युवक का पार्ट करना था। यही वह भूमिका थी जिसमें उन्हें पहली बार कामयाबी मिली और उनके सामने उज्ज्वल संभावनाओं के द्वार खुलने लगे। यह पहली फिल्म थी जिसमें बलराज की 'जकड़न' कुछ कम हुई और बलराज का अभिनय कुछ-कुछ स्वाभाविक स्तर पर आया। अपने इस अनुभव को उन्होंने स्वयं शब्दबद्ध किया है, जो रोचक तो है ही, साथ ही अनेक अन्य तथ्यों पर भी रोशनी डालता है।

" 'हम लोग' की शूटिंग आरंभ होने पर मेरी हालत बड़ी दयनीय थी। उस रोज मैं एक भी 'शॉट' ठीक ढंग से नहीं कर पाया था।...शाम को स्टूडियो

से लौटते समय मैंने जिया साहिब से कहा, "मैं उस विश्वास का अधिकारी नहीं हूं जो आप ने मुझे सौंपा है। आपको बड़ी कठिनाई से इस फिल्म को डायरेक्ट करने का काम मिला है। अगर आप मेरी जगह किसी दूसरे व्यक्ति को ले लें तो मुझे तनिक भी बुरा नहीं लगेगा। इस पर जिया साहिब कहने लगे, 'बलराज, अब तो मिल कर ही डूबेंगे या पार लगेंगे, उनके इस उदारता और सद्भावना से भरे उत्तर से मैं अभिभूत हो गया।

घर पहुंचने पर, संतोष से मिलते ही मैं फूट-फूट कर रोने लगा और दीवार के साथ सिर पटकने लगा। "मैं कभी भी ऐक्टर नहीं बन सकता, कभी नहीं।" ऐन उसी समय जिया के सहायक, नागरत नाम का एक युवक जिसकी उम्र उन्नीसेक साल की रही होगी, अचानक घर पर आ गया। मुझे इस हालत में देख कर वह मुझे डांटने लगा : 'बुजदिल। अपने को कम्युनिस्ट कहता फिरता है जबकि असलियत यह है कि इसकी रूह पैसे वालों के तलवे चाटती फिरती है। तुम्हे शर्म आनी चाहिए।'

भौंचक्का-सा मैं उसकी ओर देख रहा था। नागरत कहता गया, "यह ऐक्ट नहीं कर सकते। सब बकवास है। औरों के मुकाबले मे तुम कही ज्यादा अच्छा ऐक्ट कर सकते हो। पर उस वक्त तक नही जब तक तुम्हारी आंखें उनकी मोटरों पर लगी हैं और उनकी शोहरत और पैसे के नीचे तुम दबे जा रहे हो। अनवर अमीर आदमी है, वह नरगिस का भाई है। इसीलिए तुम उसके सामने ठीक तरह से सांस भी नहीं ले सकते। अंदर ही अंदर तुम्हे ईर्ष्या का घुन खाये जा रहा है, तुम्हारी आंखें कला पर नहीं, पैसे पर लगी हैं। वही तुम्हारी नजर में सबसे बड़ी चीज है "

नागरत ने मुझे इप्टा के एक नाटक "सड़क के किनारे" मे अभिनय करते देखा था, जिसमे मेरी भूमिका एक बीमार बेरोजगार युवक की रही थी। नाटक में सारा वक्त वह युवक पूंजीवादी निजाम के विरुद्ध जहर उगलता रहता है। मैं उस नाटक में बड़े जोश के साथ और बड़े प्रभावशाली ढग से अभिनय करता रहा था। "हम लोग" में भी मेरी भूमिका वैसी ही थी। फिर भी मैं दीवार के साथ क्यों सिर पटक रहा था?

नागरत ने मेरी नब्ज पकड़ ली थी। उसने इस भूमिका की कुंजी मेरे हाथ में दे दी थी। और वह कुंजी थी घृणा। हर चीज के प्रति घृणा। जीवन के प्रति घृणा! असीम घृणा, कभी न चुकने वाली घृणा।

मेरी मांसपेशियों की जकड़न ढीली पड़ने लगी। रात भर में अपने अंदर घृणा की आग को दहकाता रहा।...दूसरे दिन जब मैं स्टूडियो मे गया तो मेरे अंदर एक निर्मम और अन्यायपूर्ण पद्धति के प्रति घृणा की आग धधक रही

थी। ..मैं यह देख कर हैरान रह गया कि मुझे अपनी पंक्तियां खूब याद थीं। रिहर्सल के दौरान मैं अपने वाक्य इस तरह बोल रहा था मानो कोई बाज किसी चिड़िया पर झपट रहा हो। जिया ने मुझे छाती से लगा लिया।

मैं उनकी अंदाज़ों पर पूरा उतरने लगा था। मैं जो कुछ कर रहा था, वह वास्तव में बड़ा बचगाना-सा था, पर उस भूमिका के परिप्रेक्ष्य में वही सही था और सटीक बैठता था। मेरी नौका भंवर में से निकल आयी। खुशकिस्मती से मेरे संवाद भी जोशीले और नाटकीय थे..."

"हम लोग" कामयाब रही। बलराज के अभिनय ने गहरा और व्यापक प्रभाव छोड़ा। एक कुशल अभिनेता के रूप में स्थापित हो पाने के लिए बलराज को अभी और लंबा फासिला तय करना था, हां, शुरू की मुश्किलों को उन्होंने पार कर लिया था। आर्थिक दृष्टि से भी वह पहले से थोड़ा अधिक सुरक्षित महसूस करने लगे, हालांकि अभी भी उन्हें बहुत से उतार-चढाव देखने थे। "हम लोग" के बाद "बदनाम" बनी जो बुरी तरह से फेल हुई। "सोलह आने" नाम की एक फिल्म की पट-कथा लिखने और उसका निर्देशन करने के लिए उन्हें कान्ट्रेक्ट मिला, जिसमें उनकी दिलचस्पी भी खूब थी, पर उस फिल्म की योजना किन्हीं कारणों से ठप्प हो गयी। "दो बीघा जमीन" में जब वह अभिनय करने लगे तो उनकी प्रतिभा सचमुच खिल उठी, उस भूमिका के साथ उनका लगाव भी बहुत गहरा था और उसमें काम करने पर बलराज ने एक उत्कृष्ट प्रतिभासंपन्न सिने-अभिनेता का नाम कमाया।

दो बीघा जमीन

बंबई के एक उपनगर—जोगेश्वरी—में उत्तर प्रदेश से आये गवालों की एक बस्ती है। जिस दिन बलराज को "दो बीघा जमीन" के लिए चुना गया, उसी दिन से वह उस बस्ती में जाने लगे। वह वहां पर गवालों का आचार-व्यवहार देखने जाते कि गवाले अपना काम कैसे करते हैं, उठते-बैठते कैसे हैं, वेश-भूषा कैसी पहनते हैं, बात किस तरह करते हैं, आदि।

"'भैया' लोग सिर पर गमछा बांधना पसंद करते हैं," बलराज ने लिखा। "और उनमें से प्रत्येक, अपने ही ढंग से गमछा बांधता है। मैंने भी एक गमछा खरीद लिया और उसे सिर पर बांधने का अभ्यास करने लगा। पर मैं उसे इतने बढ़िया ढंग से नहीं बांध पाता था। "दो बीघा जमीन" में मेरी कामयाबी का मुख्यतः यही रहस्य था कि इन गवालों की जिंदगी को मैं बड़े नजदीक से देखता रहा था, उसका अध्ययन करता रहा था।"

जब फिल्म की शूटिंग होने लगी तो बलराज के दिल में अपनी भूमिका के

प्रति बड़ा उत्साह पाया जाता था, क्योंकि वह उनके मन के अनुकूल थी।

फिल्म का कुछ हिस्सा कलकत्ता में तैयार किया जाना था। बलराज ने फैसला किया कि वह गर्द क्लास के डिब्बे में बैठ कर रेल-सफर करेंगे, ताकि वह अपनी भूमिका को महसूस कर सकें, यह देख सकें कि किसान लोग किस तरह गाड़ी में चढ़ते-उतरते हैं, कैसे सीट पर लेटते हैं, कैसे एक दूसरे के साथ बतियाते हैं। ऐसा ही एक दृश्य फिल्म में भी लिया जाना था। कलकत्ता पहुंच कर वह रिक्शावालों के यूनियन के दफ्तर में जा पहुंचे और उनकी सहायता से रिक्शा चलाने का ढंग सीखने लगे।

पर, एक बार फिर, उनका आत्म-विश्वास डगमगा गया और उन्हें लगने लगा कि वह इस भूमिका पर पूरे नहीं उतर पायेंगे।

बलराज ने स्वयं इस बारे में लिखा है :

"मेरी समझ जवाब दे गयी थी और मुझे कुछ भी सूझ नहीं रहा था। खिन्न और हताश मैं अपने रिक्शा पर बैठ गया। शीघ्र ही अधेड़ उम्र का एक रिक्शा-चालक, जो दूर से यह तमाशा देख रहा था, मेरे पास चला आया। वह जोगेश्वरी के 'भैया लोगों' से बहुत मिलता-जुलता था। पर सेहत का बड़ा कमजोर था, उसके दांत हिल रहे थे और आगे को बढ़े हुए थे; चेहरा झुर्रियों से भरा था।...

"यहां पर क्या हो रहा है, बाबू ?" उसने मुझसे पूछा।

"फिल्म बन रहा है।" मैंने उत्तर दिया।

"क्या तुम उसमें काम कर रहे हो ?"

"हां।"

"तुम्हारा काम क्या है ?"

यह सोच कर कि उसके साथ बातें करने से मेरा मन थोड़ा हल्का हो जायेगा, मैं उसे फिल्म की कहानी सुनाने लगा, वैसे ही जैसे हृषिकेश मुखर्जी ने कभी मुझे सुनायी थी। उसकी भी वैसी ही प्रतिक्रिया हुई। उसकी आंखों में से आंसू बहने लगे, "यह तो मेरी कहानी है, बाबू, यह तो मेरी कहानी है।" वह बार-बार कहने लगा।

बिहार के किसी गांव में उसके पास भी दो बीघा जमीन थी जिसे पन्द्रह साल पहले जमींदार के पास रहन रखा गया था। जमीन के उस टुकड़े को छुड़ा पाने के लिए वह, पिछले पन्द्रह साल से कलकत्ता की सड़कों पर रिक्शा हांक रहा था। पर उसे बचा पाने की अब उसे कोई उम्मीद नहीं रह गयी थी। कुछ देर तक वह मेरे पास खड़ा ठंडी आहें भरता रहा, फिर बार-बार यह कहते हुए वहां से उठ गया, "यह तो मेरी कहानी है बाबू, यह तो मेरी कहानी है।"

"मेरे अंदर एक आवाज उठी। भाड़ मे जाये अभिनय-कला।...मुझ से ज्यादा खुशकिस्मत आदमी कौन होगा जिसे एक दुखी, निसहाय प्राणी की कहानी दुनिया को सुनाने का गौरव प्राप्त हुआ है। मुझ पर यह दायित्व डाला गया है, भले ही यह दायित्व निभाने की मुझ मे योग्यता है या नही, कुछ भी हो, मैं अपनी शक्ति के कण-कण से, अपने रोम-रोम से यह दायित्व निभाने की कोशिश करूगा। अपने दायित्व से मुंह छिपाना कायरता होगी, पाप होगा।

"मैंने अधेड़ उम्र के उस रिक्शा वाले की आत्मा को जैसे अपने अदर समो लिया और अभिनय-कला के बारे मे सोचना बंद कर दिया। मैं सोचता हूं कि मेरे अभिनय की उस अप्रत्याशित सफलता का रहस्य इसी में निहित था। अभिनय का एक मूलभूत नियम सहसा मेरे हाथ लग गया था, किसी किताब से नहीं, बल्कि सीधा जीवन से। अभिनेता जितना ज्यादा तन-मन से अपनी भूमिका के साथ जुड़ेगा, उतनी ही ज्यादा उसे कामयाबी मिलेगी। महाभारत में जब अर्जुन बाण चलाने निकला था तो उसकी आंख केवल पक्षी की आंख पर लगी थी, केवल अपने लक्ष्य पर...।

" 'अमृतबाजार पत्रिका' के एक समालोचक ने मेरी भूमिका की चर्चा करते हुए लिखा था, 'बलराज साहनी के अभिनय में उत्कृष्ट प्रतिभा झलकती है।' यह प्रतिभा वास्तव मे मुझे उस अधेड़ उम्र के रिक्शा-चालक से मिली थी।

"सोवियत संघ के एक फिल्म-निर्माता ने टिप्पणी की थी, 'बलराज साहनी के चेहरे पर सारा संसार मानो चित्रित है।' यह संसार भी उसी रिक्शा वाले का ससार था। यह बड़ी लज्जा की बात है कि आजादी के पच्चीस साल बाद भी वह संसार बदला नही है...

"एक दिन जब मैं इस संसार को छोड़ रहा होऊगा, तो मुझे इस बात का संतोष होगा कि मैंने 'दो बीघा जमीन' में अभिनय किया था।"

'दो बीघा जमीन' बड़ी लोकप्रिय हुई, उसे बड़ी ख्याति मिली। बलराज को फिल्म-संसार मे बडी प्रतिष्ठा मिली। पर आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित हो पाने मे अभी और कुछ समय लगने वाला था। 'दो बीघा जमीन' के प्रदर्शन के लगभग छ. महीने बाद उन्हे एक ओर कान्ट्रेक्ट, रामानन्द सागर की फिल्म 'बाजूबद' मे मिला।

बंबई में आने के लगभग दस साल बाद सिने-अभिनेता के नाते अपने पांव जमा पाने के लिए बलराज का संघर्ष समाप्त हुआ। उस समय उनकी उम्र इकतालीस वर्ष की थी। अब नई-नई भूमिकाओ के लिए उन्हे आमंत्रित किया जाने लगा था। अब प्रोड्यूसरो को उनकी तलाश रहती थी। उन्ही दिनों उन्होंने "औलाद", "टकसाल", "आकाश", "राही" आदि के लिए अनुबधों पर

हस्ताक्षर किये । 1944 से लेकर 1954 तक के दस सालों में उन्होंने मुश्किल से दस फिल्मों में काम किया था, पर अपने जीवन के अगले 19 वर्षों में वह लगभग 120 फिल्मों में अभिनय करने वाले थे ।

संघर्ष के लिए दस साल बहुत होते हैं, और वह भी जब अकेले में संघर्ष करना पड़े, और इन्सान अपने सिद्धांतों पर भी डटा रहे, अपनी अंतरात्मा के साथ कोई समझौता भी न करे और अपना सिर भी ऊंचा रखे ।

पिता जी की पुरानी डायरियों के पन्ने पलटते हुए मेरा ध्यान अखबार की एक कतरन की ओर गया जो उन्होंने डायरी के एक पन्ने पर पिन से लगा रखी थी । यह 24 अप्रैल, 1954 की "औलाद" फिल्म की एक समालोचना थी । लिखा था :

"बलराज साहनी, एक ऐसे अभावग्रस्त, दुःखी इन्सान की भूमिका में, जिसके दिल में सद्भावना और दर्द है, खूब सही बैठते हैं । मानवीयता का गुण जो उनके व्यक्तित्व में बड़े सूक्ष्म ढंग से झलकता है, उनकी विशिष्टता है और इनके अभिनय का मुख्य आकर्षण भी । 'दो बीघा जमीन' का किसान, 'औलाद' में घरेलू नौकर बन कर आता है । दोनों फिल्मों में वह एक स्नेही पति और पिता के रोल अदा करते हैं, जो परिस्थितियों की क्रूरता का सामना कर रहे हैं । दोनों दुखान्त फिल्में है, क्योंकि दोनों यथार्थ जीवन पर आधारित हैं ।"

पिता जी अब बलराज की उपलब्धियों में गर्व का अनुभव करने लगे थे, और जहां कहीं से ऐसी कतरनें मिलती, उन्हें संभाल कर रख लेते थे । एक के बाद एक फिल्म में बलराज की अदाकारी, अपनी सहज-स्वाभाविकता, और मानवीय सद्भावना से दर्शकों को प्रभावित करने लगी थी ।

अपने को खोज पाने और अपनी क्षमताओं को पहचानने के इस लंबे संघर्ष में, हमें कहीं-कहीं उस प्रक्रिया की झलक मिलती है जिसमें से वह गुजर रहे थे और इस बात का पता चलता है कि किस तरह वह अंततः अपनी जकड़न और झेंप आदि से पार पाने में सफल हुए ।

"अगर तुम्हारे होंठ स्वाभाविक ढंग से चलते हैं तो तुम्हारा अभिनय भी स्वाभाविक होगा ।" उन्होंने एक बार मुझसे कहा । एक और मौके पर उन्होंने टिप्पणी की, "तुम्हारे अंग-चालन में छोटी-छोटी क्रियाएं होनी चाहिए, तुम्हें बहुत ज्यादा हाथ-पांव नहीं मारना चाहिए ।" ऐसे ही अनेक 'गुर' थे जिन्हें लेकर वह अपना प्रशिक्षण करते रहते थे ।

कभी तो वह स्तानिस्लाव्स्की की प्रसिद्ध पुस्तक "अभिनेता की तैयारी" (An Actor Prepares) पढ़ रहे होते जिसे वह अपनी 'बाइबल' कहा करते थे । कभी "आधुनिक अभिनय" नाम की पुस्तक पढ़ रहे होते जिसे क्लार्क

गेबल की पत्नी ने लिखा था और जिसके बारे में उन्होंने बाद में बताया कि वह पुस्तक उनके लिए बडी हानिकारक सिद्ध हुई थी क्योंकि उन्होंने उसे वक्त से पहले पढ़ा था।

"कोई भी ऐक्टर स्वाभाविक ढंग से कैसे अभिनय कर सकता है जब उसके चेहरे पर मेक-अप की मोटी परत चढ़ी हो? उस वक्त तक मुझे मालूम नहीं था कि अभिनय को स्वाभाविकता के स्तर तक लाने के लिए एक कलाकार को बहुत-सी सीमाओं और रुकावटों को न केवल स्वीकार करना पड़ता है, बल्कि उनके अनुरूप अपने को ढालना भी पड़ता है।"

दूसरे एक स्थान पर उन्होंने लिखा :

"कलाकार का जीवन अंतर्विरोधों और पेचीदगियों से भरा होता है। कभी-कभी उसके चरित्र की कमजोरियां और सीमाएं उसकी कला के विकास में सहायक होने लगती हैं।"

यह टिप्पणी उन्होंने चार्ली चेपलिन के संदर्भ में की थी जिनकी आत्म-जीवनी को पढ़ते हुए उन्होंने पाया था कि चार्ली चेपलिन की जीवन-कथा उस वक्त तक बड़ी रोचक और हृदयग्राही बनी रहती है जब तक वह अपने अभाव के दिनों का जिक्र कर रहे होते हैं, जब उन्हें कोई नहीं जानता था, पर जब से उन्हें कामयाबी मिलने लगी, उनकी जीवन-कहानी के रंग फीके पड़ने लगे और वह नीरस होती गयी—क्योंकि तब वह निजी मामलों में उलझने लगे और बड़े-बड़े रईसों और उनकी पत्नियों के साथ उठने-बैठने लगे थे। "फिर भी", बलराज लिखते हैं, "इसी काल में उन्होंने संसार को अपनी सर्वोत्कृष्ट फिल्में भी दी थीं।"

किसी हद तक बलराज पर भी यह बात लागू होती है। फिल्मों में कामयाबी हासिल करने के साथ ही साथ फिल्मी दुनिया के प्रति तथा अपने आपके प्रति एक तरह का आंतरिक असंतोष उन्हें महसूस होने लगा था, और कभी-कभी एक प्रकार की अपराध-भावना भी कि वह अपनी अंतरात्मा के साथ समझौता कर रहे हैं। ख्याति और सफलता के साथ ही साथ अनोखी किस्म की ललकें भी उनके दिल में उठने लगी थीं, उधर निजी और पारिवारिक समस्याओं के साथ भी उनका उलझाव बढ़ने लगा था। इसके बावजूद यह वही काल था जब उन्होंने अपनी अदाकारी के सर्वोत्कृष्ट नमूने पेश किये। उनका अभिनय सर्वोत्कृष्ट स्तर को छूने लगा था।

इसी तरह एक बार बलराज ने 'संयम और उत्कट भावना' की चर्चा की, जिन्हें वे उत्कृष्ट अभिनय के दो अनिवार्य गुण मानते थे। उन्होंने इस संदर्भ में किसी युद्ध सम्बन्धी फिल्म में लारेंस आलिवियर के अभिनय की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा था :

"उस फिल्म में लारेन्स आलिवियर एक मेहमान-कलाकार के रूप में काम करते हैं और उनकी भूमिका बहुत छोटी-सी है—वायुसेना के उच्चाधिकारी की भूमिका। एक दृश्य में वह रक्षामन्त्रालय को टेलीफोन करते हैं और अधिक सैनिक-विमानों की मांग करते हैं। 'मुझे और हवाई जहाज चाहिए'—यह एक वाक्य उन्होंने इतनी गहरी भावना के साथ और साथ ही इतने संयम के साथ बोला कि मैं सिर से पाव तक सिहर उठा। इस एक वाक्य से ही दर्शकों को उस भयावह स्थिति का बोध हो जाता है जिसका देश को सामना करना पड़ रहा था।"

'संयम और अदर की तड़प'—कला के शायद यही वे मूल तत्व थे जिनका बलराज ऊंचा मूल्यांकन करते थे। इन्ही को अभिनय मे ढालना वह अभिनय-कला की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि मान कर उनका अनुसरण करते थे। बहुत साल पहले, एक बार, वह मेरे साथ शेक्सपियर के नाटक 'किंग-लियर' की चर्चा कर रहे थे। उन्होंने मेरा ध्यान उन दो शब्दों की ओर दिलाया जो लियर के मुंह से, असीम व्याकुलता और यातना के क्षणों में निकलते हैं: "यह बटन खोल दो।" लंबे-लंबे भाषणों की तुलना में ये दो शब्द लियर की आतरिक पीड़ा को कहीं ज्यादा मार्मिकता से व्यक्त करते हैं। बलराज ने कहा, अभिनेता में सशक्त कल्पना के साथ यथार्थ की मजबूत पकड़ होनी चाहिए।"

"कोई भी व्यक्ति अच्छा अभिनेता बन सकता है, पर एक महान अभिनेता बनने के लिए एक ऐसी कल्पना का होना लाजमी है जो सशक्त भी हो और ऊंची उड़ान भी भर सके।"

कला में यथार्थवाद का जिक्र करते हुए वह कहने लगे:

"यथार्थवाद की यह विशिष्टता है कि वह कला में तीसरा आयाम जोड़ देता है। मैंने रगमच तथा चित्रपट पर अपने काम मे इस तीसरे आयाम को अपनी भूमिकाओ मे लाने की कोशिश की है। एक कलाकार के लिए यह सबसे कठिन रास्ता है, पर एक ऐसा रास्ता जिस पर चलते हुए वह रचनात्मकता का सच्चा आनद उठाता है। अभिनेता को अपनी भूमिका इतने जीवत ढग से निभानी चाहिए कि हर कदम पर उसके व्यक्तित्व का कोई न कोई नया पहलू दर्शकों के सामने उभर कर आये।"

"चरित्र के अनुरूप ही भाव-भगिमा और अग-चालन होना चाहिए, उन्ही से आतरिक भावनाएं व्यक्त होती हैं, और पात्र का व्यक्तित्व सबसे अधिक उभर कर आता है। पर अभिव्यक्ति के बाहरी गुणों में कुशलता ग्रहण कर लेना ही काफी नही है, केवल इन्ही के आधार पर अभिनेता बहुत दूर नहीं जा पायेगा। इनसे उसके अभिनय मे केवल हुनरमदी और नफासत ही आ पायेंगे। वास्तव

में चरित्र की आत्मा को उद्घाटित करना जरूरी है और वह तभी सम्भव होगा जब स्वयं कलाकार में मानवीय सद्भावना पायी जायेगी, जब वह पात्र के साथ तन-मन-से जुड़ेगा, जब उसका संवेदन अपनी अंतः प्रेरणा से चरित्र के आंतरिक व्यक्तित्व को आत्मसात् कर पायेगा।"

बलराज की उपलब्धि इस बात में है कि वह तन-मन से इस मूलभूत तत्व की ओर उन्मुख हुए थे और इस तरह चरित्र को बड़े प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करने में सफल हुए थे। बाहरी भाव-भंगिमा, अंग-चालन और तौर-तरीके का अपना महत्व है, वह समाज में व्यक्ति के व्यवहार को एक सांचे में ढाल देता है। पर ऐसा अंग-चालन भी संभव है जो व्यक्ति के अंततम में से निकलता है, ऐसे अंग-चालन में मनुष्य की आत्मा बोलती है। लियर द्वारा बोले गये दो शब्द, उसकी भाव-भंगिमा के साथ मिल कर लियर के हृदय की समूची पीड़ा को व्यक्त कर देते हैं। चरित्र-अभिनय करते समय ऐसी ही जीवन्त भाव-भंगिमा का प्रयोग करते हुए ही बलराज ने एक अभिनेता के नाते अद्भुत निपुणता ग्रहण की थी। बाहरी व्यवहार तथा भाव-भंगिमा को उन्होंने दरगुजर नहीं किया। वह कहा करते थे—'ध्यान से देखो कि कोई व्यक्ति कैसे चलता है। उसकी चाल में तुम्हें उसके चरित्र की कुंजी मिल जायेगी।' वह स्वयं किसी चरित्र के व्यवहार का घंटों बल्कि कई-कई दिन तक, अध्ययन करते रहते, वह कैसे उठता-बैठता है, कैसे बातचीत करता है, आदि। जिन दिनों "काबुलीवाला" बन रही थी, वह बहुत दिन तक पठान सूदखोरों की जिन्दगी का अध्ययन करते रहे थे, या किस तरह गाड़ी वान तांगा चलाते हैं, आदि। ऐसी भाव-भंगिमा उनके चरित्र-चित्रण को प्रामाणिकता प्रदान करती थी। जब उनके चित्रण के बारे में हम सोचते हैं तो हमारी आंखों के सामने ये चरित्र ही उभरते हैं, अभिनेता बलराज साहनी नहीं उभरते। प्रत्येक चरित्र-चित्रण स्वावलंबी है, अपने पांवों पर खड़ा है, मौलिक और स्वतन्त्र है। बलराज अपने व्यक्तित्व को चरित्र के व्यक्तित्व में खपा देते थे और वह ऐसा इसलिए कर पाते थे कि जिस चरित्र को वह प्रस्तुत कर रहे होते, उसके साथ वह गहरे में जुड़ते थे।

"अभिनय केवल कला ही नहीं है, वह विज्ञान भी है।" बलराज एक जगह टिप्पणी करते हैं, "कोई भी व्यक्ति वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन तथा अभ्यास करने से कुशल अभिनेता बन सकता है।"

इसके लिए सद्भावना और तादात्मता के अतिरिक्त सामाजिक दृष्टि का होना भी बेहद जरूरी है कि अभिनेता चरित्र को व्यापक सामाजिक संदर्भ में देख सके। बलराज ने बल देकर कहा कि इसमें मार्क्सवाद बड़ा मूल्यवान साबित होता है।

"जिन लोगों को मार्क्सवाद का कोई ज्ञान नहीं है वे उसे केवल राजनीतिक मतवाद समझते हैं। यह बहुत बड़ी भूल है। मार्क्सवाद प्रकृति और जीवन के प्रत्येक पहलू को वैज्ञानिक दृष्टि से देखता है। वह हमारे मन में से बहुत-सी गलतफहमियों को दूर करता है, और हमें सही परिस्थिति का बोध कराता है। मैं समझता हूं कि आज के जमाने में मार्क्सवाद का अध्ययन एक कलाकार के लिए भी उतना ही उपयोगी है जितना समाजशास्त्री अथवा राजनीतिज्ञ के लिए।

एक बार, जब बलराज और मैं पुरानी दिल्ली के रेलवे स्टेशन के बाहर खड़े थे तो एक डाक-बाबू बलराज के पास आकर बोला, "हमारी जिन्दगी के बारे में आप कब फिल्म बनायेंगे? क्या हम इस लायक नहीं कि हमारी ओर ध्यान दिया जाये?" यह सच है कि बलराज ने विशेष रूप से समाज के निम्न वर्गों के दिल में अपनी जगह बना ली थी, निम्न मध्यवर्ग के लोग, दुकानों के कारिन्दे, रेल-कर्मचारी, क्लर्क, स्कूल-मास्टर आदि। इसमें संदेह नहीं, कि इन लोगों के जीवन की आंतरिक व्यथा उद्घाटित करने में उन्हें अपनी गहरी सद्भावना से बड़ी मदद मिलती थी, पर इससे भी अधिक सहायता उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता और सक्रियता और उसके साथ उनकी व्यापक सामाजिक दृष्टि से मिली थी।

बलराज बड़े मेहनती कलाकार थे। उन्हें विश्वास था कि कड़ी मेहनत और अपने काम के प्रति समर्पण की भावना से कलाकार को सबसे अधिक सहायता मिलती है। कठोर परिश्रम के अतिरिक्त बलराज में अनेक अन्य विशेषताएं भी थीं जिनसे कलाकार के नाते अपने विकास में उन्हें सहायता मिली। एक तो उनके स्वभाव की विनम्रता थी। वह सारा वक्त और लोगों से सीखते रहते थे। उन्हें किसी से ईर्ष्या नहीं होती थी, उनमें दूसरों के गुण ग्रहण करने की क्षमता और कलाकार की सच्ची विनम्रता पायी जाती थी, जहां से जो कुछ भी सीख सकते उसे सीखना चाहते थे। फिल्मी दुनिया में चप्पे-चप्पे पर ईर्ष्या-द्वेष, एक दूसरे की बुराई, विश्वासघात, निन्दा आदि आपको मिलेंगे। बलराज को सैंकड़ों ऐसे किस्से मालूम थे। पर ऐसा अक्सर होता कि किसी व्यक्ति के बारे में कोई ताजा किस्सा या घटना सुनाते हुए, सहसा वह बड़े उत्साह से कहते, "पर, यार तुम उस फिल्म में उसकी अदाकारी देखो! वाह, बहुत बड़ा ऐक्टर है! कमाल कर दिखाया है। उसके आगे सिर झुक जाता है।" जहां कहीं उन्हें उच्च कला के दर्शन होते, वह झूम-झूम जाते थे। वह कलाकार के व्यक्तिगत दोष भूल जाते, बलराज की आंखों के सामने केवल उसकी कला झिलमिलाती रहती और वह दिल खोल कर उसकी प्रशंसा करते। कभी-कभी

शायद उनकी प्रशंसा मे जरूरत से ज्यादा उत्साह और अतिरंजना पायी जाती थी, फिर भी उनमें यह क्षमता थी कि जहां पर किसी को प्रशंसा का अधिकारी समझते उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते, और यह एक बहुत बड़ा गुण था। वह घण्टों दिलीप कुमार को स्टूडियो मे अभिनय करता देखते और उनके अभिनय की सहज-स्वाभाविकता और कमनीयता को आत्मसात् करने की कोशिश करते। मीना कुमारी, गीता बाली आदि की प्रतिभा की वह तारीफ करते नही थकते थे।

1954 में, बलराज के बारे में लिखते हुए एक फिल्म-समीक्षक ने लिखा :

"हाल ही में यह ऐक्टर दिल्ली मे था, और अपनी फिल्म के उद्‌घाटन समारोह में उस समय जब फिल्म खत्म होने को थी, धीरे से, चुपचाप, "ओडियन" सिनेमा में घुस गया। बहुत से लोग उसे पहचान नहीं पाये, और वह भीड़ के साथ लाईन मे बाहर निकल आया। लगता है सचमुच ही यह बड़ा विनम्र स्वभाव का व्यक्ति है।"

वह अपनी स्वभावगत विनम्रता इसलिए बनाये रख सके कि उनके मन मे हमारे सामाजिक जीवन में सिने-अभिनेता की स्थिति और स्थान के बारे में कोई मिथ्या भ्रम नही था। एक बार, हम दोनों कनाट प्लेस की एक दुकान मे दाखिल हुए। बलराज को एक स्वेटर खरीदना था। जैसा अक्सर होता था, शीघ्र ही आस-पास के लोगों ने उन्हें पहचान लिया, और जब हम दुकान के बाहर निकले, तो उनके प्रशंसकों की छोटी-सी भीड़ पहले से इकट्ठा हो चुकी थी। बलराज को कुछ नौजवानों ने घेर लिया अपनी डायरियों में, रुपये के नोटों पर, कापियो में उनके हस्ताक्षर के लिए आग्रह करने लगे। बलराज मुस्कराते रहे और दस्तखत करते रहे और उनके साथ बड़ी शालीनता से पेश आये, पर साथ ही साथ वह भीड मे से अपना रास्ता भी बनाते चले गये। जब हम अपनी कार के पास पहुंचे तो भीड़ बहुत बढ़ गयी थी। लोग तालियां बजा रहे थे, इनसे हाथ मिला रहे थे। अंत मे जब हम कार चला कर वहां से निकले तो मैंने कहा—

"कमाल है ना! वे लोग तुम पर किस कद्र फिदा हैं।"

बलराज धीरे से मुस्कराये और कहने लगे : "तुमने उन्हें केवल तालियां बजाते सुना है, तुमने उन्हें सीटियां बजाते नही सुना। जब ऐक्टर की पीठ मुड़ जाती है तो वे सीटिया बजाते हैं, आवाजें कसते है, नकलें उतारते हैं। किसी गलतफहमी मे नहीं रहना। मैं एक ऐक्टर के नाते उनके लिए केवल सस्ते मनोरंजन का साधन हूं। भीड़ जो इकट्ठा होती है तो केवल तमाशबीनी के लिए।"

लोगों की भीड़ उनकी प्रतिभा के प्रति अपनी प्रशंसा व्यक्त करने के लिए जुट जाती थी अथवा नुक्ताचीनी के लिए बलराज ने उसे कभी अधिक महत्व नहीं दिया। उन्होंने कभी भी उनके बारे में गंभीरता से नहीं सोचा। बेशक, एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था, "मैं नहीं जानता कि जब मैं फिर से अज्ञातवास में लौट जाऊंगा तो मेरी क्या गति होगी। लोगों की प्रशंसा की मुझे इतनी आदत पड़ गयी है कि शायद मैं अज्ञातवास को झेल नहीं पाऊंगा।" पर इस लोकप्रियता के बारे में उनके मन में कोई मुगालता नहीं था।

एक अन्य अवसर पर बलराज ने मुझे एक किस्सा सुनाया, जो बड़ा मार्मिक और महत्वपूर्ण था। उससे इस बात का भी पता चलता है कि बलराज एक ऐक्टर की जिंदगी को किस नजर से देखते थे।

"तुम्हें मी—याद है ?" उन्होंने पूछा। बेशक, मुझे याद थीं। वह मेरी चहेती अभिनेत्रियों में से थीं। बलराज सुनाने लगे :

"एक दिन वह और मैं बस-स्टॉप पर खड़े थे। मैं उनसे मिलने उनके घर गया था और वह मुझे छोड़ने बस-स्टॉप तक चली आयी थीं। वहां कुछ नौजवानों ने मुझे पहचान लिया और मेरे पास ऑटोग्राफ लेने चले आये। उस महिला की ओर किसी ने आंख उठा कर भी नहीं देखा। मुझे झेंप हुई। मैंने उन लड़कों से उस महिला का परिचय कराया और बताया कि वह कौन हैं, कि वह वही प्रख्यात अभिनेत्री हैं जिन्होंने लाखों के दिल जीते हैं। इसके बावजूद उनमें से किसी ने भी उस महिला से ऑटोग्राफ नहीं मांगा। ऐक्टर की यही गति होती है। किसी एक दिन सहसा वह पिछड़ कर गुम हो जाता है।"

जब मैंने अपनी असहमति व्यक्त की तो बलराज तनिक खीझ उठे। उन्होंने मुझे अनेक ऐसे अभिनेताओं के बारे में बताया जिनका सितारा किसी जमाने में खूब चमकता था पर जो अब अभाव और उपेक्षा के अंधकार में जिंदगी बिता रहे हैं, और उनकी किसी को भी परवाह नहीं है।

"कला और संस्कृति के क्षेत्र में जितने टूटे हुए जीवन तुम्हें बंबई में मिलेंगे, उतने और किसी अन्य क्षेत्र में नहीं मिलेंगे। ऐसे लोग भी हैं जो एक फिल्म में तो खूब चमके, पर फिर, भाग्य ने ऐसी करवट बदली कि नीचे ही लुढ़कते चले गये। वर्षों तक दूसरे 'सुअवसर' की बाट जोहते रहे, पर वह कभी हाथ नहीं लगा। ऐसे लोग भी हैं जो छोटी-छोटी भूमिकाओं से अपना फिल्मी-जीवन आरंभ करते हैं, फिर वर्षों बीत जाते हैं और वे इन छोटी तीन-तीन मिनट की भूमिकाओं से आगे नहीं बढ़ पाते, पर इस आशा पर उनका मन टंगा रहता है कि किसी दिन उन्हें बेहतर रोल मिलेंगे। ऐसे एक नहीं सैकड़ों लोग हैं। सारा वक्त फिल्मी दुनिया पर अनिश्चय डोलता रहता है। बड़े भयावह स्तर पर

प्रतिभाओं का हनन होता है। एक कामयाब ऐक्टर के पीछे एक सौ ऐक्टर ऐसे हैं जो दर-दर ठोकरें खाते फिरते हैं। यह सब किस लिये ? मुनाफा कमाने के उद्देश्य से मनोरंजन की फिल्में जुटाने के लिए। और दूसरी ओर फिल्मों का हीरो है, जो विलायती मोटरों में घूमता-फिरता है, रईसों की तरह रहता है, उसके जीवन-यापन का रंग-ढंग दूर पार से भी उन स्थितियों से मेल नहीं खाता जो हमारे देश में व्याप रही हैं, पर अंदर से वह भी असुरक्षित महसूस करता है, सारा वक्त उसके मन पर इस बात की आशंका बनी रहती है कि जिस घोड़े पर वह सवार है वह उसे किसी भी समय नीचे पटक सकता है। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की स्थिति और भी अधिक दयनीय होती है।"

वे सारा वक्त एक बनावटी माहौल में जीते हैं। उन्हें सारा वक्त इस बात का भास रहता था कि जिस तरह फिल्मी दुनिया पर बनावटीपन का माहौल छाया रहता है वैसा ही उसमें रहने वाले सिने-अभिनेता के जीवन में भी बना रहता है।

"हम लोग जो दर्शकों को हंसाते-रुलाते हैं, उन्हें जादुई दुनिया में पहुंचा देते हैं, हम स्वयं भी ऐसे ही संसार में जीने लगते हैं, अपने जीवन को एक फिल्म अथवा नाटक में बदल देते हैं और इस तरह अपने दर्शकों के लिए और भी अधिक मनोरंजन जुटाते हैं।"

एक अन्य अवसर पर, उन्होंने कहा :

"सिनेमा के पर्दे पर जो परछाइयां चलती-फिरती हैं, वे सिने-कलाकार के जीवन के यथार्थ को ही प्रतिबिम्बित करती हैं।"

जब भी बलराज अपने फिल्मी जीवन के बारे में बात करते तो लगता अपनी सफाई दे रहे हैं। वह सदा एक प्रकार की अपराध-भावना से बात करते थे जो अंदर ही अंदर उन्हें कचोटती रहती थी। क्या यह झूठी विनम्रता थी ? क्या यह विनम्रता का मात्र दिखावा था ? मैं समझता हूं सांस्कृतिक क्षेत्र में पायी जाने वाली स्थितियों के प्रति यह एक संवेदनशील व्यक्ति की स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी, उनका असंतोष और साथ ही साथ एक उत्कट इच्छा कि वह अपनी क्षमताओं को किसी सार्थक काम में लगा पायें। बलराज का लालन-पालन एक ऐसे वातावरण में हुआ था जो आदर्शवाद से ओतप्रोत था। बचपन के दिनों में घर में आर्यसमाजी माहौल था जब पिता जी बड़ी संजीदगी और गंभीरता से समाज-सुधार की आवश्यकता की चर्चा करते। बाद में, स्वतन्त्रता संघर्ष के दिनों में, वातावरण में राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाएं-इच्छाएं और समर्पण की भावना भरी रहती थी। बलराज हमारे काल के दो महान आदर्शवादियों —गांधी और टैगोर—के निकट रह चुके थे। और बाद में जब वह मार्क्सवादी

विचारधारा मे विश्वास करने लगे तो उनका मन उत्पीड़ित मानवता के प्रति गहरी सद्भावना और प्रतिबद्धता से उद्वेलित होने लगा था। ऐसे व्यक्ति के लिए एक ऐसे क्षेत्र की घिनौनी वास्तविकता के साथ समझौता कर पाना आसान नहीं था, जहां पैसे की ही कद्रों का बोलबाला हो, और कला गौण हो। उन्हें अक्सर महसूस होता कि वे एक ऐसी मशीन के पुर्जे हैं जो कला को व्यापार बना रही है, उसका ह्रास कर रही है। इस मशीन का एक पुर्जा बन कर धनी बन जाने और ख्याति प्राप्त कर लेने से सच्चे आतरिक संतोष तथा सार्थकता का भास नही होता। इसके अतिरिक्त, साहित्य के क्षेत्र मे उनके आरंभिक प्रयास बड़े आशाजनक रहे थे। इप्टा का काम भी बडा संतोषजनक रहा था क्योंकि उसमे वह एक बेहतर सामाजिक पद्धति के लिए किये जाने वाले संघर्ष से जुड़े हुए महसूस करते थे, जिसमें वह अपने दर्शकों को किसी हद तक सचेत कर पाते थे। लेखन में और इप्टा के मंच पर, दोनों ही सरगर्मियों मे व्यक्तिगत प्रयास का कोई अर्थ था। पर फिल्मो के विशाल, आकारहीन संसार में, एक व्यक्ति के नाते वह कुछ भी नही कर सकते थे। इसी कारण उनका दिल उन्हें कचोटता रहता था कि वह अपना वक्त बर्बाद कर रहे है, कि वह उस क्षेत्र के लिए नही बने हैं।

फिर भी कला के एक माध्यम के नाते, वह फिल्म को सशक्त और प्रभावशाली मानते थे। और उन्होने स्वय अनेक बार स्वस्थ प्रगतिशील फिल्मो के निर्माण की दिशा में पहलकदमी भी की थी। उन्ही की पहलकदमी पर, कश्मीरी भाषा की पहली फिल्म 'मेहजूर' का निर्माण किया गया था, जो सुविख्यात कश्मीरी कवि मेहजूर की जिन्दगी पर बनायी गयी थी। बलराज तथा उनके सुपुत्र परीक्षित दोनो ने उसमे काम किया था। परीक्षित ने कवि की भूमिका निभायी थी। इसी भांति उन्होने श्री राजेन्द्र भाटिया की फिल्म ''पवित्र पापी' के निर्माण मे भी सहायता की थी, जो पंजाबी लेखक नानक सिंह के इसी नाम के उपन्यास पर आधारित थी। उनकी तीव्र इच्छा थी कि उनके वतन पजाब में एक फिल्म स्टूडियो स्थापित किया जाये।

भारत मे फिल्म-निर्माण के कुछेक पहलुओं के बारे में बलराज की बड़ी स्पष्ट धारणाएं थी। वह कहा करते थे कि साहित्य की भांति फिल्मो की भी जड़ें जन-जीवन मे पायी जानी चाहिए। बंगाल में अगर बढ़िया फिल्मे बनती हैं तो इसलिए कि बगाल एक सुगठित, सुसंगत, सांस्कृतिक इकाई है, जहा के फिल्म-निर्माता जनता मे से निकल कर आये है, जहां भाषा और सस्कृति की एकरसता है, जहां लेखको और फिल्म-निर्माताओं के बीच निकट का संबंध है। यह सांस्कृतिक सामंजस्यता हिन्दी फिल्मो मे नही पायी जाती। फि-

में बनायी जाती हैं, भारत के हिन्दी-भाषी प्रदेश में कोई फिल्म-स्टूडियो नहीं है।...फिल्में बनाने के लिये फिल्म-कर्मचारियों का एक बेमेल-सा समूह काम करता है जिसमें अभिनेता और फिल्म-निर्माता (जिनमें से अधिकांश मूलतः पंजाब के रहने वाले हैं,) लेखक तथा तकनीकी कार्यकर्ता शामिल होते हैं। फिल्में जन-जीवन में से निकल कर नहीं आतीं, बल्कि, अधिकांश स्थितियों में पैसे कमाने की जरूरतों के अनुरूप गढ़ी जाती हैं, और कुछेक फार्मूलों के चौखटे में फिट कर दी जाती हैं। इसी कारण फिल्मों में बनावटीपन पाया जाता है। फिल्म-निर्माण में सांस्कृतिक परिदृश्य का अभाव रहता है। यह तथ्य तो फिल्म की पटकथा के प्रति फिल्म-निर्माताओं के रवैये से ही स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी फिल्मों में पटकथा के प्रति रवैया बड़ा यांत्रिक होता है विदेशी फिल्मों में इसके बिल्कुल उलट होता है हमारे यहां कहानी की रूपरेखा निर्धारित हो जाने के बाद, समझा जाता है कि अब पटकथा में दृश्य और संवाद करने का ही काम ही बाकी रह गया है। कभी-कभी तो फिल्म की शूटिंग शुरू हो जाने के वक्त तक भी संवाद नहीं लिखे जाते। अक्सर ऐसा होता है कि उधर कैमरामैन ने कैमरा सेट कर लिया और अब शॉट लेने का इन्तजार कर रहा है कि जल्दी में संवाद लिखे जाने लगते हैं—

"उन दिनों शशिधर मुखर्जी को बॉक्स-आफिस का जादूगर माना जाता था। उनकी कोई भी फिल्म कभी फेल नहीं होती थी। वह एक सीधे-सादे फार्मूले के मुताबिक काम करते थे—वह जान-बूझ कर पटकथा को कमजोर रखते थे। यदि पटकथा कमजोर होगी तो दर्शक बड़ी बेताबी से नाच-गानों का इन्तजार करता रहेगा। अगर दर्शक को संवादों में रस मिलने लगा, तो उसकी दिलचस्पी नाच-गानों में कम पड़ जायेगी, जो, उनके तर्क के अनुसार, बॉक्स-आफिस की दृष्टि से वांछनीय नहीं होगा। हिन्दी फिल्मों की कामयाबी का दारोमदार एक ही बात पर है—नाच-गानों पर।

"दृश्यों और संवादों को अलग से लिखना, मेरी समझ में बहुत बड़ी भूल है। पटकथा एक पौधे की भांति होती है, उसका हर हिस्सा—जड़ें, तना, शाखें, पत्ते, सभी स्वाभाविक ढंग से स्वाभाविक क्रम के अनुसार पनपते हैं...।"

बलराज ने लगभग 135 फिल्मों में अभिनय किया जिनमें से अनेक फिल्मों में उन्होंने कुछेक अविस्मरणीय चरित्र प्रस्तुत किये। यदि हिन्दी फिल्मों के बनावटीपन और सनसनीखेज मार-काट के बावजूद बलराज प्रामाणिक मार्मिक और बड़े जीवंत चरित्र पेश करने में सफल हुए तो इसलिए कि वह फिल्मों में अपने संवेदनशील तथा कलात्मक स्वभाव के साथ-साथ, दृष्टि की विशालता और गहरी सामाजिक चेतना ले कर आये थे। इन चरित्रों की एक पूरी की

पूरी चरित्रमाला आंखो के सामने उभरती है—क्लर्क (गर्म कोट), किसान ('दो बीघा जमीन'), घरेलू नौकर ('औलाद'), पठान ('काबुलीवाला'), शरणार्थी ('वक्त'), अमीर कारखानेदार ('एक फूल दो माली'), मुस्लिम व्यापारी ('गर्म हवा') आदि जिनमें बलराज अपनी शख्सियत को उस चरित्र के व्यक्तित्व में खपा देते हैं, जिसे वह प्रस्तुत कर रहे होते है। जिस परिवेश में से वह आये थे, इस कारण और अपने विशिष्ट मानसिक गठन तथा मान्यताओं के कारण उनके लिए फिल्मी-दुनिया मे अपने को ढाल पाना कई बार बड़ा कठिन हो जाता था। इससे उनका काम और भी ज्यादा कठिन और संघर्ष और भी ज्यादा कड़ा और दारुण हो उठता था। एक तरह से वह सारा वक्त ही बहाव के विरुद्ध अपना रास्ता बनाते रहे थे, और कई बार यह बहुत मुश्किल हो जाता था। इसके अतिरिक्त, उन्होने कभी आगे बढ पाने के लिए कोई 'हथकण्डे' इस्तेमाल नहीं किये। बल्कि वह सदा ही बडी गरिमा, शिष्टता और एक कलाकार के आत्मसम्मान के साथ व्यवहार करते रहे, वह कभी भी फिल्मी दुनिया की कूटनीति मे नही पड़े। यह जानते हुए कि हमारे देश मे एक सिने-कलाकार के काम मे बड़ी असुरक्षा पायी जाती है, और हर काम की नाप-तौल मुनाफे से की जाती है, उन्होने सदा ही एक कलाकार की गरिमा बनाये रखी। उनके सिर पर इस बात का भी भूत सवार नहीं था—जैसा कि रोमांटिक किस्म के आदर्शवादियो पर होता है कि वह कोई नया पथ प्रशस्त करने निकले हैं। वह निष्पक्ष तथा संतुलित दृष्टि रखते थे, वह जानते-समझते थे कि फिल्मी-दुनिया मे वह अपनी अदाकारी से अपना एक छोटा-सा प्रभाव-क्षेत्र बना सकते है, इससे अधिक कुछ नही, और उसको इज्जत-आबरू के साथ और सुचारू ढंग से प्राप्त कर पाने के लिए उन्होंने कड़ी मेहनत की। कभी-कभार ही किसी निर्देशक के साथ काम में कोई तनाव पैदा हुआ हो अथवा किसी फिल्म-निर्माता के साथ झगडा हुआ हो। उनका सारा संघर्ष एक कलाकार के नाते अपने साथ रहता था, और उसमे उनकी विनम्रता, उनका ग्रहणशील स्वभाव, यथार्थ के प्रति उनकी परोक्ष दृष्टि आदि से उन्हे बड़ी मदद मिली थी। इस तरह, अपने ढंग से, उन्होने सचमुच ही एक नया पथ प्रशस्त किया था।

"आज तक मैं बड़ी ईमानदारी और आत्म-सम्मान के साथ काम करता रहा हूं। यदि मुझसे ये दोनो छूट गये तो मैं कही का नही रहूंगा।"

(22 जून, 1954 का पत्र)

एक अन्य अवसर पर जब मैंने उन्हें लिखा कि मेरे लिए किसी व्यक्ति से सिफारिश के दो शब्द कह दें, तो जवाब में उन्होने लिखा :

"मैंने अपने लिए कभी किसी से कुछ नहीं कहलवाया और अब मैं सोचता

हूं कि तुम्हारे लिए किसी से सिफारिश करना तुम्हारे साथ अन्याय करना होगा ...सीधा पेड से फल तोड़ने का अपना ही मजा है ..मैं नही चाहता कि तुम इस सुख से वंचित रहो।" (11 जुलाई, 1956 का पत्र)

फिल्मों में वह उच्च कोटि के अभिनेता बने तो एक तो इसलिए कि उनमे एक सच्चे कलाकार की संजीदगी पायी जाती थी और दूसरे इसलिए कि वह कड़ी मेहनत कर सकते थे। शीघ्र ही उनकी फिल्मों को देखने के लिए सिनेमा-हाल खचाखच भरने लगे और उनकी फिल्मो की जयंतियां मनायी जाने लगी। धड़ाधड़ पुरस्कार भी मिलने लगे। उन्हें मान्यता मिली, और उसके साथ ख्याति और धन-ऐश्वर्य भी। फिल्मी जिन्दगी के उतार-चढ़ाव के बावजूद उनका सितारा बराबर ऊंचा उठता गया। बंबई मे उनके निवास-स्थान पर जाने वाला कोई भी व्यक्ति दर्जनों ट्राफियो को देखकर प्रभावित हुए बिना नही रहता, जो ऐसी फिल्मों से उन्हे प्राप्त हुई थी जिन्हे भरपूर लोकप्रियता मिली थी, साथ ही चौखटों मे लगे उन मानपत्रो को भी देख कर जो उन्हे देश भर की अनगिनत सभाओ, सगठनों द्वारा सम्मानित किये जाने पर दिये गये थे।

1969 मे उन्हें भारत सरकार की ओर से (पद्मश्री) की उपाधि से सम्मानित किया गया।

फिल्मों के साथ ही साथ बलराज ने रंगमच के साथ भी सक्रिय सबंध बनाये रखा। 1950 के आस-पास, बंबई में इप्टा की सरगर्मिया करीब-करीब ठप्प हो गयी थी। निकट के अपने कुछेक मित्रो तथा उत्साही नाट्यकर्मियो के साथ मिलकर उन्होने जुहू आर्ट थियेटर के नाम से एक छोटी-सी शौकिया नाटक मडली स्थापित की, जिसमे उनकी पत्नी संतोष, नितिन सेठी, मोहन शर्मा, उनकी प्रतिभासम्पन्न पत्नियां और अनेक अन्य युवक-युवतियां शामिल थे। इस तरह बलराज की ड्रामाई सरगर्मिया लगभग निर्विघ्न चलती रही। मण्डली ने गोगोल के "इंसपेक्टर जनरल" का मंचन किया, इसके बाद बर्नार्ड शॉ के नाटक "पिगमेलियन" पर आधारित "अजहर का ख्वाब" नामक नाटक प्रस्तुत किया। उनके सहकर्मी, रंगमंच के साथी कलाकारों से कही ज्यादा बलराज के जिगरी दोस्त बन गये जो बाद में अनेक कठिनाइयो-मुसीबतो के समय उनके कंधे से कंधा मिला कर खड़े हुए। छठे दशक मे इप्टा भी फिर से सक्रिय होने लगा था और बलराज फिर से इप्टा के मंच पर नजर आने लगे थे। ऐसी ही उनकी एक भूमिका 'आखिरी शमा' नाम के नाटक मे थी, जिसमे उन्होने गालिब की भूमिका निभायी थी। इसके सवाद कैफ़ी आजमी ने लिखे थे और नाटक का निर्देशन सथ्यू ने किया था। गालिब की जन्मशती के अवसर पर यह नाटक दिल्ली के लाल किले के दीवान-ए-आम मे बड़ी कामयाबी के साथ खेला गया था।

बलराज ने पंजाबी रंगमंच के साथ भी अपना रिश्ता कायम रखा। वह पंजाबी कला केन्द्र द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले नाटकों में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। इस नाटक-मंडली के कर्णधार सरदार गुरुशरण सिंह हैं, जो गहरी सामाजिक प्रतिबद्धता और समर्पण की भावना से काम करने वाले कलाकार हैं। इन पंजाबी नाटकों में भाग ले पाने के लिए बलराज कभी-कभी बंबई से अमृतसर तक का लंबा सफर तय करते। कभी-कभी वह इस नाटक-मण्डली के साथ पंजाब के दूर-पार के इलाकों का दौरा करते। जीवन के अंतिम दिनों तक यह सक्रिय संपर्क बना रहा। वास्तव में उनकी मृत्यु के हफ्ता भर पहले वह बलवन्त गार्गी के एक पंजाबी नाटक की रिहर्सलों में लगे हुए थे।

8. लेखन

धीरे-धीरे, समय बीतने पर, जब सिने-कलाकार के नाते उनकी प्रतिभा विकसित हुई तो उनके सिर पर एक और जुनून सवार होने लगा। वास्तव में वह कोई नया जुनून नहीं था, वह जुनून सारा वक्त मौजूद रहा था, केवल वह अभी तक दबा हुआ था। यह पंजाबी भाषा, पंजाबी साहित्य और पंजाबी संस्कृति के प्रति गहरा लगाव था। अब वह इतनी प्रबलता और शक्ति के साथ जोर मारने लगा था कि शायद स्वयं बलराज को भी इसका इल्म नहीं था। इसके अनेक कारण रहे होंगे। उन्हें पंजाब छोड़े एक अर्सा बीत गया था, और अब वह उसके लिए तरसने लगे थे और अपने वतन लौट जाना चाहते थे। पर यह केवल वतन से दूर रहने की ही ललक नहीं थी। यह एक कलाकार के नाते उनके संघर्ष का तर्कसंगत परिणाम था। एक कलाकार के नाते वह महसूस करने लगे थे कि उन्हें अपना नाता, अपनी जनता की संस्कृति के साथ गहरे से कायम करना होगा, कि उन्हें वहीं का बन कर रहना होगा। एक कलाकार उन लोगों के जीवन और संस्कृति से ही वह जीवन-शक्ति प्राप्त कर सकता है जिनके बीच वह पल कर बड़ा हुआ हो। जिस कलाकार की ऐसी जड़ें नहीं होतीं उसकी कला का विकास रुक जाता है और उसमें बनावटीपन आने लगता है।

कारण और भी थे। उनका साहित्य-प्रेम– जो उनके जीवन का पहला प्रेम था फिर से उनके अंदर कसमसाने लगा था। वह अभी भी यही समझते थे कि जीवन में उन्होंने सही व्यवसाय नहीं अपनाया और फिर से उन्हें साहित्य की ओर उन्मुख होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार की फिल्में बन रही थीं उनसे उनका असंतोष उत्तरोत्तर बढ़ रहा था, और वह महसूस करने लगे थे कि जिस कोटि की फिल्में बन रही थीं, उनके लिए इतने धन और शक्ति का अपव्यय सर्वथा अनुचित था।

1954 की गर्मियों में, बलराज, 'बदनाम' नामक फिल्म की शूटिंग के बाद,

मनाली से लौटते हुए सीधा अमृतसर के लिए रवाना हो गये। जहां वह प्रसिद्ध पंजाबी उपन्यासकार, नानक सिंह के दर्शन करना चाहते थे। 1953 से ही वह मुझे पंजाबी भाषा में, गुरुमुखी लिपि में, पत्र लिखने लगे थे। 12 मई, 1955 के अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा :

"मुझे फिल्मों के साथ तनिक भी लगाव नहीं है। मुझे केवल साहित्य से प्रेम है, और उसमें भी, सबसे अधिक, पंजाबी साहित्य से। यदि मैं पंजाबी भाषा में कोई मौलिक, रचनात्मक लेखन न भी कर सकूं तो कम से कम पंजाबी भाषा में अनुवाद-कार्य तो कर ही सकता हूं, इस तरह भी मैं एक उपयोगी जीवन बिता सकता हूं। ..लोगों को अपनी भाषा में सर्वोच्च ज्ञान की आवश्यकता है। अपने देश को आगे ले जाने का यही एक सही तरीका है...।"

अपने पत्रों में वह बार-बार इस बात की चर्चा किया करते थे कि कुछ धन कमा लेने के बाद वह दिल्ली वापिस लौट आयेंगे और दिल्ली में या श्रीनगर में रहने लगेंगे और अपना सारा समय और सामर्थ्य साहित्य-सृजन को देंगे।

"तुम्हें यह जान कर खुशी होगी कि अमिय चक्रवर्ती ने मुझे अपनी अगली फिल्म के लिए भी चुन लिया है। अबकी बार वैजयन्ती माला अभिनेत्री होगी। संभव है इस कान्ट्रेक्ट के आधार पर मुझे कुछ और कान्ट्रेक्ट भी मिल जायें। अगर इस साल मैं कुछ पैसे बचा लूं तो अगले साल तक मैं इस कीचड़ में से निकल आना चाहता हूं ..।" *(20 फरवरी, 1956 का पत्र)*

कुछ समय तक तो वह घर लौटने और 'अपना शांति निकेतन' स्थापित करने के सपने देखते रहे जिसमें वह और मैं और कुछेक अन्य व्यक्ति सीधा-सादा-सा जीवन व्यतीत करते हुए अपना सारा समय साहित्य-सृजन को देंगे।

"शूटिंग रात-दिन चल रही है। बैंक में मेरे पास सात-आठ हजार रुपये की रकम जमा है। ...मेरी एक ही इच्छा है कि अगले छः महीने या एक साल में, मेरे पास बीस हजार रुपये जुड़ जायें, तब मैं यह कह सकूंगा कि मेरा जीवन मेरा अपना है। यदि सौभाग्यवश मैं तीस हजार रुपये बचा पाने में सफल हो जाऊं तब मैं तुम्हें भी खींच लाऊंगा और हम कश्मीर में अपना शांतिनिकेतन बनायेंगे। (1954)

कुछ ही महीने बाद उन्होंने फिर लिखा :

"इस साल मैं जरूर बीस हजार रुपये बचा लूंगा। ..दिल्ली में रहने के लिए हमारा अपना घर है, यही सुविधा कश्मीर में भी है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, अगर तुम एक योजना बनाओ, तो इससे बढ़ कर मुझे किसी बात की खुशी नहीं होगी कि हम दोनों अपना 'शांति-निकेतन' बनायेंगे। इस समय हमारे जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है जिसे हम अपना नहीं कह सकते।

रचनात्मक काम के लिए यह एक बहुत बड़ी समस्या है । पर अगर हम मिल बैठें और सोच-विचार करें तो इसमें से निकलने की सूरत निकल सकती है, हालांकि मैं भली भांति जानता हूं कि इसमें बहुत-सी दिक्कतें पेश आयेंगी ।"

(12 मई, 1955 का पत्र)

यही वह समय था जब उनकी प्रतिभा लोगों का ध्यान अधिकाधिक आकृष्ट करने लगी थी और वह उस 'कीचड़' में अधिकाधिक गहरे उतरते जा रहे थे । कभी-कभी मैं सोचा करता था कि साहित्यिक काम के प्रति बलराज की ललक कहीं व्यापार के प्रति पिता जी की ललक जैसी ही तो नहीं है कि जिसके साथ उनका मोह तो बहुत था, पर जिसके लिए वह कोई जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं थे । पर बलराज के साथ ऐसा नहीं था । वह सचमुच बड़ी लगन के साथ प्रतिदिन घंटों पंजाबी भाषा का अध्ययन करने लगे थे और वह भी इतने उत्साह के साथ कि किसी को भी रश्क हो सकता था । पढ़ाई के अलावा, वह वाक्यांश, लोकोक्तियां, मुहावरे आदि लिख-लिख कर कापियां भरने लगे । वह माता जी के पास देर-देर तक बैठते और माता जी के मुंह में से निकलने वाले प्रत्येक मुहावरे तथा वाक्य को नोट कर लेते । वह गुरुद्वारों में जाते, गुरुवाणी और रागियों के गीत सुनते । बम्बई में मुझे वह एक रात किसी दूर-पार के गुरुद्वारे में ले गये जहां पंजाब से कुछ रागी आये थे और वे गुरुवाणी के शब्द सुनाने जा रहे थे । हम रात ग्यारह बजे तक उनके गीत सुनते रहे, उसके बाद बलराज किसी स्टूडियो की ओर रवाना हो गये जहां रात भर उनकी शूटिंग चलने वाली थी और मैं घर लौट आया ।

यह केवल ललक की ही बात नहीं थी । बलराज, मुख्यतः एक कलाकार के नाते अपनी भाषा और अपने प्रदेश की संस्कृति की ओर उन्मुख हो रहे थे । उन्हें लगता था जैसे पंजाबी संस्कृति के साथ उनका नाता टूट गया था और फिर से वह नाता जोड़ रहे हैं । उनकी मान्यता थी कि कोई भी कला अपने परिवेश से कट कर विकास नहीं पा सकती । वह बंगालियों, केरलवासियों और मराठियों का उदाहरण दिया करते जिनका सांस्कृतिक जीवन सुसम्बद्ध था । उन्हें इस बात से बड़ा क्षोभ होता कि स्वयं पंजाबियों ने अपनी भाषा और संस्कृति को अपनाया नहीं है । जब अंग्रेज यहां पर थे तो अंग्रेजी का बोलबाला था और उसके बाद, उर्दू की प्रतिष्ठा थी । आजादी के बाद अनेक युवा पंजाबी लेखक, हिन्दी की ओर उन्मुख हुए । पंजाबियों ने स्वयं अपनी पंजाबी भाषा की उपेक्षा की है, जो अपने में एक बड़ी विचित्र बात है । किसी अन्य प्रदेश में लोगों ने अपनी भाषा के प्रति इतनी उदासीनता नहीं बरती जितनी पंजाबियों ने । वह कहा करते, कि भले ही बबई की फिल्मी दुनिया पर पंजाबी छाये हुए हैं पर

फिल्मों का कलात्मक और सांस्कृतिक स्तर इसीलिए गिरा हुआ है कि पंजाबी सिने-कर्मी अपनी पंजाबी संस्कृति के साथ गहरे में जुड़े हुए नहीं हैं।

जितना अधिक वह पंजाबी भाषा और संस्कृति से जुड़ते, उतना ही अधिक एक फिल्मी कलाकार के नाते उनकी प्रतिभा निखरती जाती।

वह बार-बार पंजाब की यात्रा करने निकल जाते। कुछ ही वर्षों में बहुत से पंजाबी लेखकों के साथ उनके मैत्रीपूर्ण संबंध हो गये। दोस्तों के इस दायरे में नानक सिंह, गुरुबख्श सिंह, नवतेज, जसवंत सिंह कंवल, गुरुशरण सिंह आदि बहुत से लेखक शामिल थे और उनके साथ बलराज की गहरी निजी दोस्ती हो गयी थी। बलराज के मन में साहित्यिक व्यक्तियों के प्रति एक विचित्र-सा आकर्षण हमेशा ही रहा था, वैसा ही जैसा उन स्थानों के प्रति जो साहित्यिक व्यक्तियों से जुड़े थे। लेखकों और कलाकारों से मिलने की उनके मन में उत्कट इच्छा रहा करती थी। यदि कोई कविता उनके दिल को छू जाती तो तत्काल उनकी यह इच्छा होती कि उस कविता के लेखक से मिला जाये। 1960 में, जब वह पाकिस्तान गये तो वहां हीर की कब्र की ज़ियारत करने गये (पंजाबी के सुप्रसिद्ध रोमांस 'हीर-रांझा' की नायिका), हालांकि वह जगह उनके रास्ते से बहुत कुछ हट कर थी। कई बार, दिल्ली आने पर वह ग़ालिब की क़ब्र देखने पहुंच जाते। इसी तरह, अनेक वर्ष पहले, वह कश्मीर के सुप्रसिद्ध कवि मेहजूर से परिचय प्राप्त करने कश्मीर घाटी के अंदर, दूर-पार के एक गांव में जा पहुंचे थे क्योंकि उन्होंने मेहजूर के कुछेक गीत लोगों के मुंह से सुने थे।

शीघ्र ही उन्होंने एक पंजाबी टाईपराइटर भी प्राप्त कर लिया—दफ्तरी रेमिंग्टन—और टाइप करना सीखने लगे। एक ऐसी स्थिति भी आ गयी जब वह टाईपराइटर को अपने साथ स्टूडियो में ले जाने लगे, और शूटिंग के दौरान खाली समय में, अपने केबिन में बैठे कभी कोई लेख तो कभी कोई निबंध अथवा कविता टाईप करने लगते।

अपने वतन लौटने और अपना 'शांतिनिकेतन' स्थापित करने का उनका सपना साकार नहीं हो रहा था। वह फिल्मों में ज्यादा, और ज्यादा उलझते जा रहे थे। अनेक अन्य बातें भी थीं, जो उन्हें उस ओर से हतोत्साह कर रही थीं। 1960 के अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा :

"मैं समझता हूं कि अपना घर बनाना जरूरी हो गया है, अपनी जगह होनी चाहिए, विशेष कर इसलिए भी कि परीक्षित इसी काम में प्रशिक्षण ले रहा है, और शबनम और सनोवर का भी यहीं पर (बंबई में) लालन-पालन हुआ है। घर बन जाने पर मैं ज्यादा आजाद महसूस करने लगूंगा। बाद में अगर मुझे लगा कि मुझे बबई छोड़ देना चाहिए तो घर को बेचा

जा सकता है, या किराये पर चढ़ाया जा सकता है। जहां तक मेरा संबंध है; मेरी रुचि तो अधिक पंजाब और पंजाबी साहित्य में ही है, और मैं उसी में अपने को खोता जा रहा हूं।"

अफसोस, जब अंत मे वह सचमुच पंजाब जाने के लिए तैयार हो गये थे, और प्रीत नगर में एक घर भी खरीद लिया था और उसमे साज-सामान भी रख दिया गया था जब फिल्मों का अपना काम भी उन्होंने लगभग समेट लिया था, और अब केवल कुछ ही दिनों मे वह पंजाब में जाकर रहने वाले थे, कि मौत ने उनका दरवाजा खटखटा दिया।

पर अपने दिल में उन्होने सचमुच ही अपना 'शांतिनिकेतन' बसा लिया था, अपना छोटा-सा पजाब, पजाबी संस्कृति का नन्हा-सा केन्द्र जिसमे से उन्हे एक फिल्मी कलाकार के नाते भी और एक साहित्यकार के नाते भी बल और प्रेरणा मिलती रहती थी।

फिल्मी जीवन के बारे में अपने सस्मरण लिखते हुए बलराज ने एक जगह लिखा है :

"मार्क्सवाद ने मुझे भाषा की समस्या को वैज्ञानिक दृष्टि से देखने की शिक्षा दी है। टैगोर और गांधी जैसी विभूतियों के विचारो से प्रभावित होकर, मेरे अपने विचार इस दिशा की ओर मुड़ने लगे थे कि प्रत्येक कलाकार और लेखक के लिए उसकी मातृभाषा आत्माभिव्यक्ति का सबसे सक्षम माध्यम है। मार्क्सवाद के अध्ययन ने मेरे इस विश्वास को और भी पक्का कर दिया।"

(मेरी फिल्मी आत्मकथा, पृ. 108)

इसका मतलब यह नही कि वह पजाबी भाषा को छोड़ किसी अन्य भाषा से सरोकार ही नही रखते थे। एक साहित्यप्रेमी के नाते, वह अन्य भाषाओ की भी उतनी ही कद्र करते थे, और जो भी अन्य भाषा सीख सकते थे, बड़े उत्साह से सीखते थे। इंगलैण्ड में अपने निवास के दिनो मे, वह बड़ी मेहनत से उर्दू भाषा की अपनी जानकारी मे वृद्धि करते रहे, ताकि वह गालिब के कलाम को पढ सकें। उन्हे गालिब की शायरी से गहरा प्रेम था और कई मौको पर हम देर तक बैठे उनके कलाम का रस लेते और उसकी चर्चा करते रहते थे। बगला पर भी उन्हे अच्छा अधिकार प्राप्त हो गया था, और टैगोर की लगभग सभी रचनाएं उन्होने मूल बगला मे पढी थी। एक बार जब वह दिल्ली के रास्ते बंबई लौट रहे थे तो मैं उन्हे दिल्ली रेलवे स्टेशन पर मिलने गया। उन्होंने टैगोर के कविता-सग्रह मे से मुझे एक लबी कविता बगला मे पढ़ कर सुनायी जिसे वह सफर में पढ़ते रहे थे—महाभारत के दो पात्रो का परस्पर सवाद था—वह उसमें इतने खो गये थे कि गाड़ी छूटने तक केवल उसी की चर्चा करते रहे।

बबई मे उन्होंने बड़े उत्साह के साथ गुजराती और मराठी, दोनों भाषाएं सीखीं। एक बार मैंने उन्हें तमिल भाषा का अध्ययन करते हुए भी देखा। वह बड़े सुभीते से भाषा सीख लेते थे और उसका प्रयोग भी कर लेते थे।

1960 में बलराज ने, पाकिस्तान का दौरा किया। वह बड़े उत्साह के साथ इस दौरे पर निकले थे—अपने वतन रावलपिण्डी के साथ उनकी गहरी यादें जुड़ी थीं, भेरा के साथ भी, जो हमारा पुश्तैनी कस्बा था, और लाहौर के साथ भी जहां बलराज ने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। और जहां से उन्होंने जीवन में पदार्पण किया था। निजी यादों की बात अलग, वह तो जैसे एक व्यक्ति के शिष्टमण्डल के रूप मे वहां जा रहे थे, क्योंकि पाकिस्तान के लोगों के प्रति उनके दिल मे गहरा प्रेम और आदरभाव था। वहां से लौट कर उन्होंने अपना प्रसिद्ध सफरनामा 'मेरा पाकिस्तानी सफर' लिखा जो पजाबी भाषा मे लिखी उनकी पहली महत्वपूर्ण रचना थी।

इस पुस्तक के पृष्ठावरण पर एक फोटो चित्र है, जिसमें बलराज, लड़कपन के अपने मित्र और पड़ोसी बोस्तान खान से बगलगीर हो रहे हैं। उन दोस्तों से मिल कर वह फूले नही समाये जिनके साथ वह खेल कर बड़े हुए थे, जिनमें से एक व्यक्ति अब तांगा चलाता था, दूसरा मोटर-ड्राइवर बन गया था और तीसरा तहसीलदार था, आदि-आदि। अपने प्रदेश की बोली, मधुर, सगीतमय पोठोहारी भाषा उनके कानो मे पड़ी तो वह झूम उठे। हमारे पुश्तैनी कस्बे भेरा मे उन्हें एक वयोवृद्ध महिला मिली जो हमारे माता-पिता को तथा अनेक अन्य संबंधियों को जानती थी, जो बीते दिनों की यादें ताजा करती रही, और बलराज के साथ अपने बेटे जैसा व्यवहार करती रही। सरगोधा जिला के छोटे से शहर झग मे भी वह गये, ताकि पंजाबी महाकाव्य 'हीरा-राझा' की नायिका हीर की कब्र को देख सकें। यह दौरा एक जज़्बाती दौरा ही था। एक छोटी-सी घटना के उल्लेख से बलराज के नज़रिये का कुछ अदाज हो जायेगा।

रावलपिण्डी में बलराज अपने घर को देखने गये जो छाछी मोहल्ला मे स्थित है। जब से देश का बटवारा हुआ था, हमें इस बात का कोई इल्म नही था कि हमारे पीछे हमारे घर के साथ क्या बीती थी। केवल एक ही पत्र, हमारे पड़ोसी की ओर से हमे इस आशय का प्राप्त हुआ था कि घर छोड़ने के फौरन ही बाद घर का ताला तोड़ दिया गया था, और बहुत सारा सामान लूट लिया गया था। इस प्रकार की बहुत-सी घटनाए पजाब सीमा के दोनो ओर घटती रही थी और इसे सामान्य व्यवहार ही मान लेना चाहिए। शरणार्थी जानते थे कि ऐसा तो होगा ही। पर घर मे कौन लोग रह रहे हैं, उनके बारे मे बलराज के मन में बड़ा कुतूहल था।

बलराज जब घर पहुंचे तो वहां पर कोई शादी हो रही थी और बारात का इन्तजार था और जियाफत की तैयारियां चल रही थीं। बलराज ने अपना परिचय घर वालों को दिया। वह पूर्वी पंजाब से उखड़ा हुआ मध्यवर्ग का मुस्लिम परिवार था। शीघ्र ही बलराज, घर के लोगों के साथ हिल-मिल गये, और जब बारात आयी तो घर के लोगो के साथ मिल कर बारातियों को खाना खिलाने लगे।

पुस्तक मानवीय भावनाओ से ओतप्रोत बड़ा सवेदनशील दस्तावेज़ है, जो उन तन्तुओं पर प्रकाश डालता है जो हमे पाकिस्तान के लोगो तथा उनकी संस्कृति के साथ जोड़ते हैं, और जो बड़े बारीक और नाजुक हैं।

पंजाबी साहित्य मे यह बलराज की पहली महत्वपूर्ण रचना थी।

शीघ्र ही बलराज नियमित रूप से लिखने लगे थे और उनकी कलम धारा प्रवाह चलने लगी थी। वह कठिन आरंभिक काल अब पीछे छूट चुका था जब वह पजाबी भाषा सीख रहे थे और लिपि पर अधिकार प्राप्त कर रहे थे। अब वह खुल कर लिखने लगे थे और उनका आत्मविश्वास उत्तरोत्तर बढ रहा था। वह इस बात की चर्चा करते नही थकते थे कि पंजाबी मे अपने को व्यक्त कर पाने मे उन्हें तनिक भी प्रयास नही करना पड़ता था।

"इससे पहले मुझे कविता लिखने मे संकोच होता था। अब मैं बड़ी आसानी से किसी भी विधा पर भले ही वह संस्मरण हो, कविता हो, कुछ भी हो निःसंकोच लिखने लगता हूं। भाषा आड़े नही आती। मुझे लगता है जैसे मैं अपने घर पहुंच गया हूं।"

इसका यह मतलब नही कि अपनी त्रुटियां उन्हें नज़र नही आती थी। वह अक्सर इस बात की शिकायत किया करते थे कि कहानी लिखने का हुनर वह खो बैठे हैं और यह भी कि उनका पद्य अभी भी उखड़ा-उखडा-सा है। पर इसमे सदेह नही कि लेखक के नाते वह अपने को एक स्थिर और मजबूत आधार पर खडा महसूस करने लगे थे। बंबई की पजाबी पत्रिका 'रणजीत' मे वह नियमित रूप से पुस्तक-समीक्षाएं लिखा करते। साथ ही पंजाब मे 'प्रीत लड़ी' तथा दिल्ली मे 'आरसी' को लेख, कविताएं आदि भेजा करते थे।

"मेरा पाकिस्तानी सफर" के बाद 1969 मे "मेरा रूसी सफरनामा" प्रकाशित हुआ। यह भी एक महत्वपूर्ण यात्रा-विवरण था जो उन्होने ज्ञानी जैल सिंह और अपने एक दक्षिण-निवासी मित्र के साथ सोवियत सघ के कुछेक प्रदेशो का दौरा करने के बाद लिखा था। उस महान देश में बलराज की यह पहली यात्रा नहीं थी। सबसे पहले वह 1954 में सोवियत संघ की यात्रा पर गये थे, जब वह भारतीय फिल्मों के एक समारोह मे भाग लेने भारतीय सिने-प्रतिनिधिमण्डल

के एक सदस्य के रूप मे गये थे। उस समारोह मे "दो बीघा जमीन", "आवारा तथा कुछेक अन्य भारतीय फिल्मे दिखायी गयी थी। उस यात्रा से वह अत्यधिक उत्साहित होकर लौटे थे। लौटने के बाद उन्होने अपने एक पत्र मे लिखा था, "वाह! कैसा अद्भुत देश है! कैसे अद्भुत लोग हैं! कैसा उनका जीवन है।" सोवियत संघ के साथ उनका संबंध गहरा होता गया और बाद में वह कई बार सोवियत-यात्रा पर गये, कभी किसी सिने-शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप मे तो कभी भारत-सोवियत सांस्कृतिक संघ द्वारा भेजे जाने वाले किसी शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में, जिस संगठन के वह उप-प्रधान भी थे। एक बार वह कुछ अर्से के लिए वहां पर रहे भी थे, जब 'परदेसी' नामक फिल्म बनायी जा रही थी। यह फिल्म भारतीय और सोवियत फिल्म-कर्मियो का साझा प्रयास था। चौदहवी शताब्दी मे भारत की यात्रा करने वाले एक रूसी सौदागर अफ़ानासी निकितिन के जीवन और यात्राओ पर आधारित इस फिल्म मे बलराज ने अफ़ानासी के मित्र की भूमिका निभायी थी।

'मेरा रूसी सफ़र' मे दिन-प्रतिदिन के रोचक और प्रेरणाप्रद अनुभवो का ब्योरा मिलता है, जिन्हें बलराज ने बड़े अनौपचारिक और गप्प-शप्प के अंदाज में लिखा है, जिसमें जगह-जगह गंभीर विचार तथा टिप्पणियां भी पिरो दी गयी हैं। उसका सबसे रोचक पहलू उसकी परोक्ष वस्तुनिष्ठ दृष्टि है, जिसमें चीजों को उसी रूप मे प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है, जिस रूप मे लेखक ने उन्हें देखा तथा अनुभव किया था।

पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई और इस पर उन्हें सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इसके शीघ्र ही बाद बलराज ने एक पैम्फलेट लिखा जिसमें उन्होंने देश के विभिन्न भागों के बीच संचार के माध्यम के रूप मे रोमन लिपि अपनाने का आग्रह किया। उन्हें इसका संकेत इस बात से मिला था कि भारतीय सेना मे सभी विज्ञप्तियो के लिए पहले से ही रोमन लिपि का प्रयोग किया जा रहा है, और वह बड़ा उपयोगी साबित हुआ है। यदि उसे अखिल-भारतीय स्तर पर अपना लिया जाय, तो इसमें बहुत-सा ऐसा मन-मुटाव जो विभिन्न भारतीय भाषाओ के बीच लिपि संबंधी वाद-विवाद को लेकर पैदा होता है, दूर हो जायेगा। बलराज ने यह पैम्फलेट अपने खर्च पर छपवाया और बुद्धि-जीवियों तथा सार्वजनिक क्षेत्र मे काम करने वाले लोगों के बीच व्यापक स्तर पर वितरित किया।

1970 मे उन्होंने एक और पैम्फलेट लिखा : "हिन्दी लेखकों के नाम पत्र"। मूल रूप मे यह पैम्फलेट पंजाबी भाषा में लिखा गया था जिसका बाद में सुपरिचित लेखक सुलवीर ने हिन्दी में अनुवाद किया। बलराज ने उसे "परचंदुग"

आदि हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं को प्रकाशनार्थ भेजा, पर कोई भी उसे छापने के लिए तैयार नहीं हुआ, इस तरह बाद में इसे भी उन्होंने पैम्फलेट के रूप में अपने ही खर्च पर 1972 में छपवाया और मुफ्त बाटते रहे।

चूंकि बलराज ने अपना साहित्यिक काम एक हिन्दी लेखक के रूप में आरंभ किया था, उन्हें इस बात की अपेक्षा थी कि हिन्दी लेखक उनकी बात सुनेंगे। उर्दू के सवाल पर प्रकाशित होने वाला यह एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है, जिसे ध्यान से पढ़ने की जरूरत है।

पैम्फलेट का आरंभ वह बबई में आयोजित किसी उर्दू सम्मेलन की कड़ी आलोचना से करते हैं। उन्हें इस बात का डर था कि वह 'सम्मेलन' उर्दू भाषा को किसी अल्पसंख्यक जाति की भाषा घोषित करने जा रहा है। बलराज का कहना है कि अंग्रेजों ने भाषा के सवाल को धर्म के साथ जोड़ा था—मिसाल के तौर पर उन्होंने पंजाब की भाषा उर्दू करार दी थी, इस आधार पर कि पंजाब में मुसलमानों की अक्सरियत पायी जाती थी—और इस तरह साम्प्रदायिकता का विषैला बीज देश के सामाजिक जीवन में बोया था। उर्दू को अल्पसंख्यकों की भाषा घोषित करना भी उसी दिशा में कदम उठाना था।

"धर्म के साथ भाषा को जोड़ने वाले घिनौने साम्राज्यवादी षड्यंत्र पर पूर्वी पाकिस्तान के बंगालियों ने कड़ा प्रहार किया है। बगाली मुसलमानों ने अपनी भाषा उर्दू न मान कर उर्दू की इस माग को कि वह इस्लामी भाषा है, रद्दी की टोकरी में फेंक दिया है। इसी भांति तमिलनाडु के हिन्दुओं ने, हिन्दी को सभी हिन्दुओं की भाषा न मान कर इस दकियानूसी अवधारणा को गहरी चोट पहुंचायी है।"

आगे चल कर वह लिखते है —

"हमारा देश बहुत-सी जातियों और तरह-तरह के लोगो का एक साझा परिवार है। उनमें से प्रत्येक को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। जो लोग, बिना सोचे-समझे 'एक देश—एक भाषा' का नारा देते फिरते हैं उन्हें पाकिस्तान के तजरबे से सबक सीखना चाहिए। यह एकता का मार्ग नहीं, गिरावट और पिछड़ेपन की ओर ले जाने वाला मार्ग है।"

इतिहास का हवाला देते हुए और उन इलाको के साथ भारत के संबंधो की चर्चा करते हुए जहा से, पिछले जमाने में, हमलावर आये थे, बलराज लिखते हैं :—

"जिन जातियो ने, इस्लाम के प्रादुर्भाव से पहले भारत पर आक्रमण किया था, वे भी उसी नस्ल की थी जिस नस्ल के हम हैं, और वे जातियां भी जिन्होंने इस्लाम के प्रादुर्भाव के बाद भारत पर हमले किये। भले ही उन्होंने उस वक्त

तक इस्लाम कबूल कर लिया था, पर उनकी रगों में भी वही खून बहता था, उनकी भाषाएं भी संस्कृत में से ही उपजी थीं...।"

आगे चल कर...

"सैकड़ों वर्षों तक, उत्तरी भारत मे, स्थानीय लिपियों के साथ-साथ, फारसी लिपि का प्रयोग होता रहा है। सैकड़ो सालो के प्रयोग से फारसी लिपि भी उसी भांति भारतीय लिपि बन गयी है, जिस भांति मुगल पहरावा भारतीय पहरावा बन गया है। हम नही जानते कि सुप्रसिद्ध पजाबी कवि शेख फरीद ने अपना कलाम फारसी लिपि में लिखा था या गुरुमुखी लिपि मे, या वारिस शाह ने अपना प्रसिद्ध खण्ड काव्य 'हीर-रांझा' किस लिपि मे कलमबद किया था। पर किसी पंजाबी को इससे कोई फर्क नही पड़ता, दोनो लिपियां पजाबी भाषा की ऐतिहासिक लिपियां हैं।...इसी भांति, आप के राज्य, उत्तर प्रदेश मे देवनागरी लिपि और फारसी लिपि, दोनो साथ-साथ दो बहनो की तरह चलती आ रही हैं। कौन जानता है कि अपने दोहो की रचना करते समय अमीर खुसरो ने देवनागरी लिपि का प्रयोग किया था या फारसी लिपि का, अथवा 'पद्मावत' के रचयिता मलिक मोहम्मद जायसी ने कौन-सी लिपि अपनायी थी ? पर इससे कोई अतर नही पड़ता। दोनो हिन्दी भाषा के महान कवि हैं, उर्दू भाषा संभ्रांत वर्गों की, शहरी लोगों की, और दरबारियो की चहेती भाषा बन गयी। पर उर्दू मे लिखने वालों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी...।"

आगे चल कर बलराज लिखते हैं—

"ऐसे इलाको में जहां उर्दू, जनता की मातृभाषा नही है, उर्दू के अधिकारो को मनवाने की कोशिश करना उर्दू को मुस्लिम अल्पसंख्यको के साथ जोड़ना है। उर्दू यदि पंजाबियो अथवा बगालियो की भाषा नही है, तो वह मराठों, आंध्रप्रदेश के निवासियो, तमिलनाडुवासियो, केरलवासियो की भाषा भी नही हो सकती, भले ही वे हिन्दू हों या मुसलमान। इन राज्यो के मुसलमानो का हित इसी में है कि वे अपनी मातृभाषा से उसी भांति प्रेम करें जिस भांति बगाल अथवा बंगलादेश के निवासी अपनी मातृ-भाषा बगला से प्रेम करते हैं। उत्तर प्रदेश मे उर्दू को उसका पैदायशी हक जरूर मिलना चाहिए, क्योंकि वह उस इलाके की मातृभाषा है, नि संदेह, उत्तर प्रदेश में हिन्दी को समानता मिलनी चाहिए। कोई भी इंसाफ पसंद आदमी इससे इन्कार नही कर सकता। हिन्दी और उर्दू एक दूसरी की दुश्मन नही है। वह दो लिपियो में लिखी जाने वाली एक ही भाषा है, उसी तरह जैसे पंजाबी।"

उनके तर्कों मे वजन है, वे बड़े साफ और सुसंगत हैं। उनके विचारों की लय में गहरी ईमानदारी के साथ-साथ गहरी चिन्ता पायी जाती है। वह बड़े

दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश में इतने महत्वपूर्ण सवालो को लेकर सार्वजनिक स्तर पर विचार-विमर्श को कभी भी प्रोत्साहित नही किया जाता। हमेशा यही समझ लिया जाता है कि इनके बारे मे या तो यूनिवर्सिटियो के अध्यापको और या सयासतदानो में ही अपनी राय देने की काबलियत पायी जाती है। कटु साम्प्रदायिक भावनाएं, जिन्हें बड़ी आसानी से उभारा जा सकता है, और जिनके रहते राष्ट्र के हित मे, इस सवाल पर निष्पक्ष और परोक्ष दृष्टि से विचार कर पाना ही असंभव हो जाता है, स्थिति को और भी विषैला बना देती हैं। बलराज, लोकहित मे इस विषय पर खुल कर अपनी बात कहते हैं, क्योकि वह उन्हें गहरे में परेशान करती है।

लगभग इसी समय बलराज ने एक पंजाबी नाटक पर काम करना शुरू किया, वह बड़ी मेहनत से उस पर काम करते रहे, बार-बार पाण्डुलिपि का संशोधन करते रहे, उसे बार-बार लिखते रहे। यह नाटक तीन अंकों मे लिखा गया, उसका नाम था "बापू की कहेगा ?" (बापू क्या कहेंगे ?) यह एक सामाजिक नाटक है पर उसकी मूल स्थिति पूर्णतः काल्पनिक है।

किसी शहर मे साम्प्रदायिक दंगा भड़क उठने पर एक वयोवृद्ध, नि.स्वार्थ समाजसेवी, जो कांग्रेस का स्थानीय नेता था, एक अस्पताल मे जख्मी पड़ा है। बेहोशी की हालत मे वह कल्पना करता है कि उसने जीवन और जीवनोत्तर स्थिति के बीच की विभाजन रेखा को पार कर लिया है, और अगली दुनिया में जा पहुंचा है। प्रवेश करने पर उसकी मुलाकात पुराने राष्ट्रीय नेताओं— गाधी, नेहरू, भगत सिंह आदि से होती है। वह उन नेताओ से ऐसे सवाल पूछता है जो उसे बेचैन किये हुए हैं, क्योकि वह अपने काल के यथार्थ को समझ पाने में असमर्थ रहा है।

बलराज के भाग्य मे इस नाटक का स्टेज पर मंचन देख पाना नही बदा था। पहली बार इस नाटक को बलराज के देहांत के एक साल बाद, उनकी जन्मतिथि के अवसर पर दिल्ली मे, बंबई इप्टा के कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया गया था। नाटक का कुशल निर्देशन सुप्रसिद्ध फिल्म निर्माता तथा फिल्म निर्देशक सथ्यू ने किया था।

बलराज उन दिनों खूब लिख रहे थे। एक वक्त में वह एक साथ दो लेख-मालाएं लिख रहे थे, एक फिल्मी दुनिया के अपने अनुभवो के बारे में थी, जिन्हें बाद मे इकट्ठा करके "मेरी फिल्म सरगुजश्त" नाम से (मेरे फिल्मी अनुभव) पुस्तक-रूप में प्रकाशित किया गया था। दूसरी उनके रोजमर्रा के अनुभवों के बारे मे थी, जो शब्द-चित्रों से अधिक मिलती-जुलती थी, इनके अधिकांश पात्र निम्न श्रेणियों मे से लिये गये थे—ये संस्मरण भी बाद में "गैर जजबाती डायरी"

(भावुकता से मुक्त डायरी) नाम से पुस्तक रूप मे प्रकाशित किये गये थे। ये शब्द-चित्र बड़े जीवन्त, साफ और उस मानवीय सद्‌भावना से ओत-प्रोत हैं जो एक लेखक के नाते बलराज का प्रमुख गुण थी। और उनके फिल्मी-संस्मरण एक सिने-कलाकार के नाते उनके अपने संघर्ष पर, तथा इस कला के विभिन्न पक्षों पर और उनकी तह में काम करने वाले कारक-तत्वों पर भरपूर रोशनी डालते है। ये संस्मरण आम संस्मरणों से हट कर हैं। खुलकर, दो-टूक भाषा में और पूरी ईमानदारी के साथ लिखे गये ये संस्मरण बलराज के आंतरिक व्यक्तित्व को उजागर करते हैं—उनकी विनम्रता, उनके मन की ग्रहणशीलता जो दूसरों की प्रतिभा का ऊंचा मूल्य आंक सकती है, उनकी संतुलित सामाजिक दृष्टि, आदि—साथ ही उस माहौल के स्वरूप को भी जिसमें वह काम कर रहे थे। एक ओर ये संस्मरण बड़े ठोस तथ्यों पर आधारित हैं, दूसरी ओर इन्हें हमारे सामाजिक जीवन, नैतिक मूल्यों और सौंदर्य-बोध संबंधी उनकी मान्यताओं के व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। बातचीत के अंदाज में लिखे गये इन रोचक संस्मरणो में फिल्मी दुनिया की जानी-मानी हस्तियों, ऐक्स्ट्रा, के रूप मे काम करने वाले लोगों के शब्द-चित्र, स्टूडियो के काम की झलकियां, फिल्मी दुनिया के किस्से-कहानियां, आदि बहुत कुछ हैं। साथ ही ये दिल को गहरे मे छूने वाले दस्तावेज भी हैं, जिनमें फिल्मी जीवन की विडम्बनाएं, उसकी खुशफहमियां, उसका दर्द, आदि गहरे मे प्रभावित करते हैं।

बलराज पद्य भी लिखने लगे थे। उनकी छंद मुक्त कविताओं मे 'बेटर दी वार' (बेटर की गाथा), जो 1972 में, "प्रीत लड़ी" में प्रकाशित हुई थी, तथा अनेक छोटी कविताएं शामिल हैं।

हम उन्हें एक उपन्यास लिखते हुए भी पाते हैं, यह बड़े आकार का, बड़ी कैन्वास पर लिखा जाने वाला उपन्यास था, पर जिसे वह अधूरा छोड़ गये। इस तरह, उनकी रचनाओं में, दो यात्रा-विवरण, दो संस्मरणात्मक निबंध-संग्रह, एक लंबा नाटक, कुछेक कविताएं, दो पैम्फलेट, एक जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में दिया गया कान्वोकेशन भाषण, बड़ी संख्या में लेख, निबंध, आदि शामिल हैं। उनकी पहले की रचनाओं में जब वह हिन्दी भाषा मे लिखा करते थे, "बसंत क्या कहेगा?" *नामक कहानी-संग्रह, एक बालोपयोगी पुस्तक* "ढपोर शंख", साथ ही अनेक हास्य-व्यंग्य के निबंध तथा शब्द-चित्र शामिल हैं। इनके अतिरिक्त, और भी चीजें उन्होंने लिखी हैं, मिसाल के तौर पर अंग्रेजी मे कुछेक कविताएं जो उन्होंने कालिज के दिनों मे लिखी थी, कुछेक कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद, एक रेडियो नाटक—"वह आदमी जिसके सिर मे घड़ी थी" जो उन्होने लंदन मे बी.बी.सी. में काम करते समय लिखा था 'कुर्सी' शीर्षक से एक नाटक को

उन्होंने इप्टा में काम करते समय लिखा था, तथा "बाजी" नामक फिल्म की पट-कथा आदि शामिल हैं।

संख्या की दृष्टि से तो यह अधिक नहीं है, पर उनकी अन्य व्यस्तताओं को देखते हुए यह रचनात्मक कार्य पर्याप्त भी है और महत्वपूर्ण भी।

लेखन के क्षेत्र में भी उन्हें मान्यता मिली। 1971 में पंजाब सरकार के भाषा विभाग ने उन्हें "लेखक शिरोमणि" पुरस्कार से सम्मानित किया जो बलराज को अत्यधिक प्रिय था।

बलराज की रचनाओं के बारे में लिखते हुए, पंजाबी के एक जाने-माने आलोचक, सरदार कपूर सिंह गुमनाम ने लिखा है :

"वह जो कुछ भी लिखते हैं, सीधा दिल की गहराइयों मे उतरता है, क्योंकि वह उनके अनुभवों की उपज है। जिस भांति दूध में मिठास घुली रहती है, वैसे ही उनके लेखन में उनका मधुर व्यक्तित्व घुला रहता है 'मेरा रूसी सफ़र' पढ़ते समय लगता है कि पाठक बलराज के सामने खड़ा है, और उनकी बातें सुन रहा है। उनका लेखन निजी किस्म का है, बलराज पाठक से अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य का परिचय कराते हैं, पर इससे भी बढ़ कर, पाठक बलराज के दिल को देख पाता है जो शीशे की तरह साफ था। तर्क की दृष्टि से सुसंगत लेखन में भी बलराज उतने ही माहिर हैं जितने विडम्बना और व्यंग्य के प्रयोग में। कभी-कभी गंभीर वैज्ञानिक, सामाजिक तथा दार्शनिक सवालों की व्याख्या करने के लिए वे वार्तालाप शैली का प्रयोग करते हैं जो बड़ा असरदार होता है। बलराज इस बात की इजाजत नहीं देते कि भावुकता, उनके विवेक पर हावी हो जाये। इसी कारण उनकी शैली मूलत दलील पेश करने वाली शैली है, तर्कोन्मुख शैली है। वह पाठक की सोच को जगाती है। अपने गहरे अध्ययन के कारण बलराज में विभिन्न प्रकार के विषयों पर तर्कसंगत ढंग से विचार करने की योग्यता पायी जाती है, साथ ही एक कलाकार, होने के कारण वह दर्शक और पाठक की रुचि को बराबर बनाये रखते हैं। जिस भांति एक उत्कृष्ट अभिनेता हल्की-सी भाव-भंगिमा द्वारा अथवा हंसी-खेल में दिल का समूचा दर्द व्यक्त कर देता है, वैसे ही बलराज की सहज स्वाभाविक अभिव्यंजना हमारे मर्म को छू जाती है। उनके कथन मे सच्चाई है, ईमानदारी है, वह स्वतः-स्फूर्त है, दो-टूक है, उसमें गहरी मानवीयता पायी जाती है, इसी मे उनकी कलम का जादू निहित है। एक उत्कृष्ट लेखक होने के कारण ही वह एक महान अभिनेता बन पाये।

"मित्रों के बीच उनका हंसमुख, मधुर स्वभाव सभी का मन जीत लेता था। यही गुण उनके लेखन मे भी पाये जाते हैं। वह कहीं पर भी जरूरत से ज्यादा एक वाक्य भी नहीं लिखते थे।

"सच्चाई से उन्हें प्रेम है। वह तस्वीर का, केवल एक ही पहलू नहीं देखते। उनके प्रत्येक कथन में साहस और निर्भीकता पायी जाती है। एक ओर जहां वह अंग्रेजों की साम्राज्यवादी मानसिकता के प्रति तीव्र विद्रोह-भाव व्यक्त करते हैं तो दूसरी ओर वह अंग्रेजी भाषा की खूबियों को भी नजरअंदाज नहीं करते। कभी-कभी उनकी साफ़गोई बड़ी निर्मम होती है। वह कभी भी लाग-लपेट नहीं करते। वह अपने को भी नहीं बख्शते और जिस सपाटबयानी के साथ वह अपनी भर्त्सना करते हैं, उससे उनका लेखन और भी अधिक मनमोहक हो जाता है। और प्रमुख बात यह है कि उनमें एक सच्चे कलाकार और लेखक का आत्म-सम्मान पाया जाता है...।"

लेखन-कार्य के अतिरिक्त वह बराबर डायरी भी लिखते थे और उसमें अपने उद्गार खुल कर व्यक्त करते थे। उनका पत्र-व्यवहार अनगिनत लोगों के साथ रहता था। उनके खत बेहद रोचक और प्रेरणाप्रद होते और उनका अपना ही रंग होता था, उनकी अपनी ही महक होती।

लेखन-कार्य और रंगमंच की सरगर्मियों के साथ-साथ वह सार्वजनिक जीवन में भी सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे। कोई भी प्रगतिशील कदम होता, कोई सभा, कोई जुलूस, कोई प्रदर्शन, चन्दा इकट्ठा करने की कोई मुहिम, चुनाव-मुहिम, इनमें भाग लेने वालों में बलराज सदा पेश पेश रहते। जुलाई, 1955 में, उन्होंने वारसा (पोलैण्ड) में होने वाले विश्व युवा समारोह में भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का नेतृत्व किया। वहां से लौटने के शीघ्र ही बाद वह एक सिने-शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में चीन के लिए रवाना हो गये, जिसका नेतृत्व सुविख्यात सिने-कलाकार पृथ्वीराज कपूर कर रहे थे और जिसमें उनके साथ ख्वाजा अहमद अब्बास तथा चेतन आनन्द आदि भी शामिल थे। अलग-अलग मौकों पर वह कृष्ण मेनन, जो बलराज के लंदन-निवास के दिनों पुराने मित्र थे, श्रीमती सुभद्रा जोशी तथा अमरनाथ विद्यालंकार की चुनाव-मुहिमों में भी जोश-खरोश के साथ काम करते रहे थे। सार्वजनिक कार्यों में उनकी सक्रियता उनके जीवन के अंतिम दिनों तक बनी रही। वास्तव में, एक बार वह चुनाव के काम पर ही गये हुए थे जब इंदौर में, उनकी बेटी के देहान्त की दुःखद सूचना उन्हें मिली थी। कहीं भी कोई सामाजिक संकट उठ खड़ा होता, कोई दंगा-फिसाद, या प्राकृतिक प्रकोप, और बलराज सब कुछ भूल कर वहां पहुंच जाते और जैसे भी बन पड़ता, मदद करते। अपनी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले वह महाराष्ट्र के सूखाग्रस्त इलाकों का दौरा कर रहे थे। ऐसी थी उनकी प्रतिबद्धता। उनका स्वभाव ही ऐसा था कि देश के किसी भाग में कोई दु:खद घटना घट जाती तो वह चैन से बैठ ही नहीं सकते थे, न ही अलग-थलग रह

सकते थे। एक बार मैं उनके साथ भिवण्डी शहर में गया था, जो साम्प्रदायिक दंगों के कारण तहस-नहस कर दिया गया था। ख्वाजा अहमद अब्बास और आई. एस. जौहर तथा फिल्मों के कुछ और लोग भी हमारे साथ थे। हम सुबह सवेरे मोटरकार द्वारा बंबई से रवाना हुए और उसी शाम लौट भी आये थे, पर दो दिन बाद, बलराज फिर भिवण्डी जा पहुंचे। इस बार वह अकेले गये थे और वहां दो सप्ताह तक बराबर टिके रहे, और पीड़ितो की जो भी सहायता कर सकते थे, करते रहे। "अगर तुम एक दिन के लिए जाओ तो दुखी लोग यह समझते हैं कि तुम टूरिस्टों की तरह उनकी यातना का तमाशा देखने आये हो।" उन्होने टिप्पणी की। भिवण्डी मे अपने अनुभवों को उन्होने बड़े विस्तार से अपनी डायरियो मे लिखा है। यही प्रतिबद्ध मानसिकता उन्हे बगलादेश में खींच ले गयी थी; बगलादेश की जग के दिनो मे, उन्होने पश्चिमी बगाल के भी अनेक भागों का दौरा किया था। उनकी सभी सार्वजनिक सरगर्मिया, उनकी यात्राएं, सेवा-कार्य, सभी सामाजिक दृष्टि से एक सचेत कलाकार तथा नागरिक के व्यक्तित्व के अभिन्न अंग थे। छोटे-छोटे सामाजिक प्रश्न हों, अथवा संकटपूर्ण स्थितियां हो, वह उनसे गहरे में जुड़ जाते थे। अपनी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले 'टाइम्स आफ इडिया' में उन्होने एक पत्र लिखा जिसमे इस बात की शिकायत की कि जूहू मे समुद्र तट के निकट नारियल के पेड़ो को अंधाधुंध गिराया जा रहा है।

अपने सामाजिक कार्य-कलाप के साथ ही साथ लेखन कार्य, फिल्मी काम, नाटकों में अभिनय, और घर-परिवार की जिम्मेदारिया, सभी को निभा पाना, अद्भुत अनुशासन और गहरी प्रतिबद्धता का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता है। वह सभी चिट्ठियों का जवाब स्वयं देते, और अविलंब देते थे। यात्राओं पर जाते तो किताबें पढते, जो अक्सर गंभीर किस्म की हुआ करती थी। मुझे याद है, एक बार बंबई की लोकल रेलगाड़ी में वह बड़ी तन्मयता से एगेल्स की गंभीर और क्लिष्ट पुस्तक 'ऐंटीड्यूहरिंग (Anti Duhring) का अध्ययन कर रहे थे।

उनकी सार्वजनिक लगन को देखते हुए उनके सामने राज्यसभा का सदस्य मनोनीत किये जाने का प्रस्ताव रखा गया, पर उन्होने उसे स्वीकार नही किया, इस विचार से कि वह राजनीतिक काम के लिए उपयुक्त सिद्ध नही हो सकेंगे। इसके महीना-दो महीना बाद उन्होने मुझे बताया कि प्रस्ताव स्वीकार न करके उन्होने भूल की है क्योंकि राज्यसभा की सदस्यता से उन्हें देश के कोने-कोने की यात्रा कर पाने, और देश की स्थिति से जानकारी हासिल करने का सुनहरा मौका मिल रहा था।

9. घर-परिवार

यह समझना भूल होगी कि सफलता, यश और मान्यता मिलने पर, और अपनी चहेती रुचियों के अनुसार काम करने पर, बलराज के जीवन में से सभी अड़चनें दूर हो गयी होंगी। वास्तव में ऐसी कोई बात न थी। यों भी, किसी कलाकार के लिए संघर्ष कभी समाप्त नहीं होता। प्रत्येक नई भूमिका, नई चुनौतियां ले कर आती है और पहली भूमिकाओं की ही भांति कला के स्तर पर वैसे ही संघर्ष की मांग करती है। इसके अतिरिक्त उनके भाग्य में मानसिक शांति नहीं लिखी थी, न ही समतल धीमी गति पर चलने वाला, एकरस जीवन ही। जब से उन्होंने घर छोड़ा था, उनका जीवन संघर्षपूर्ण रहा था। उनके स्वभाव की बेचैनी भले ही वक्त बीतने पर और जीवन के रंगारंग अनुभव ग्रहण करने पर बहुत कुछ कम हो गयी थी, पर फिर भी आराम की ज़िंदगी बिता पाना उनके लिए कभी भी संभव नहीं हुआ। और फिर भाग्य पर किसका बस चलता है और कौन जानता है कि किस ओर से थपेड़ा पड़ेगा जो उसकी शांति को फिर से भंग कर देगा? कौन इंसान है, जो जीवन की पेचीदगियों और धक्कों से बच कर निकल सके।

बलराज में साहस था, पहलकदमी थी, लगन से काम करने की क्षमता थी, दृष्टि की विशालता थी, पर इस सबके बावजूद उनमें व्यवहार-कुशलता न के बराबर थी। वह दुनियादार नहीं थे। ज्यों-ज्यों वक्त बीतता गया, जीवन के व्यावहारिक, रोजमर्रा के सवालों को सुलझाने की मजबूरी कम होती गयी, इंसानी रिश्तों के क्षेत्र में भी, रंगारंग के अनुभवों के बावजूद, वह किसी हद तक आदर्शवादी ही बने रहे थे, और अक्सर पेचीदा, कठिन परिस्थितियों का सामना करने में असमर्थ हो जाते थे। और जीवन में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। उनकी शक्ति का स्रोत उनके चरित्र की दृढ़ता और कुछेक मूलभूत सिद्धांतों में विश्वास और निष्ठा ही थी, जिनसे उन्हें कठिन समय में बड़ी

सहायता मिलती थी ताकि वह अपना आत्मविश्वास बनाये रख सके और जितना सार्थक, रचनात्मक जीवन बिता सकते हैं, बिता पायें।

यहां उनके पारिवारिक जीवन के बारे में दो शब्द कहना जरूरी समझता हूं। वर्षों तक बलराज जुहू चर्चरोड पर थियोसोफिकल कालोनी में स्थित एक छोटे से घर में रहते रहे थे। दमयंती के जीवन-काल में भी और कुछ अर्सा बाद तक भी जब बलराज इप्टा के सरगर्म कारकुन थे, वह यहीं पर रहते रहे थे। छोटा होने पर भी, इस घर में बड़ी गहमागहमी रहती थी। हां, उसमें किसी को भी एकान्त नहीं मिल पाता था, हर बरसात में उसकी छतों का छाजन टपकता था, उसमें आराम से रह पाने के लिए बलराज के पास पर्याप्त साधन भी नहीं थे। फिल्म तथा इप्टा के उत्साही सहकर्मियों के लिए वह एक अड्डा भी बना हुआ था, जो वक्त-बेवक्त उसमें आते-जाते रहते थे, पर उस सबके बावजूद घर में गहरी मानवीय स्निग्धता पायी जाती थी। जुहू के समुद्र-तट के निकट होने के कारण, शनिवार और रविवार के दिन बलराज के घर में, हर परिचित-अपरिचित के लिए चाय की केतली गर्म रहती थी, और समुद्र में स्नान करने के बहुत से शौकीन तो बलराज के घर को कपड़े बदलने के शैड की भांति इस्तेमाल करते थे। समुद्र में देर तक तैराकी का आनंद लेने के बाद वे लोग लौट कर आते, कीच से सने पैरों के साथ कमरों को लांघते हुए बलराज के गुसलखाने में जा पहुंचते, ताजा पानी से स्नान करते, और फिर गर्म-गर्म चाय के प्यालों पर प्याले चढ़ाते हुए राजनीति पर बहसें किया करते। बलराज का पारिवारिक जीवन न के बराबर था और बच्चों की ओर अक्सर ध्यान ही नहीं दिया जा सकता था।

पर इप्टा की सरगर्मियां कुछ-कुछ ठंडी पड़ जाने से और फिल्मों में बलराज की व्यस्तता बढ़ जाने से घर के माहौल में तनिक शांति आ गयी थी। साथ ही बलराज ने अपने बच्चों को पब्लिक स्कूलों में दाखिल कराने का फैसला कर लिया था ताकि वे बेहतर अनुशासन में रह सकें और शिक्षा ग्रहण कर सकें। उसके बाद भी कई साल तक बलराज और संतोष उसी घर में बने रहे थे और उनकी छोटी बच्ची, सनोबर, का लालन-पालन भी वहीं पर हुआ था।

पर 1961 में सन एण्ड सैण्ड होटल के पास टर्नर रॉयल लेन पर (अब इस सड़क का नाम बलराज साहनी मार्ग रखा गया है) जमीन के एक बड़े से टुकड़े पर, बलराज ने अपना घर बना लिया। घर बन जाने पर उस का नाम घर के वास्तुशिल्पी के नाम पर 'इकराम' रखा गया। ऐसा बहुत कम देखने में आता है कि कोई मकान-मालिक अपने घर का नाम मकान बनाने वाले आर्किटेक्ट के नाम पर रखे। परस्पर विश्वास और मैत्री का ऐसा सुंदर संबंध बलराज और

आर्किटेक्ट के बीच पनप उठा था, कि अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर पाने के लिए बलराज ने अपने घर का नाम इकराम साहिब के नाम पर रखा।

कमरों की दृष्टि से तो घर खूब बड़ा था पर उसकी बनावट अच्छी नहीं थी। अगर घर छोटा होता और ज्यादा सुगठित होता तो यही बेहतर होता। पर यह विशालकाय घर इस उसूल पर बनाया गया था कि इसमें रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को निजी एकान्त मिल सके—जिस एकांत से परिवार के सदस्य अपने पुराने घर में वंचित रहे थे, पर अफसोस, घर के निर्माण में, इस पहलू पर जरूरत से ज्यादा बल दिया गया था। घर के प्रत्येक सदस्य को एक बहुत बड़ा कमरा मुहैया किया गया था जिसके साथ गुसलखाना और शौचालय जुड़े हुए थे। एक बार जब कोई व्यक्ति अपने कमरे में पहुंच जाता, तो वह घर के अन्य सभी लोगों से बिलकुल कट जाता था। दोपहर के वक्त जब घर के लोग सो रहे होते तो समूचे घर में सन्नाटा छा जाता। जब दोनों बड़े बच्चे पब्लिक स्कूल में पढ़ने के लिए भेज दिये गये, तो बलराज, तोष और उनकी छोटी बच्ची सनोवर के लिए (बाद में सनोबर को भी परीक्षित और शबनम वाले स्कूल, लारेंस स्कूल सनावर में डाल दिया गया था) इतने बड़े घर की जरूरत नहीं रह गयी थी। एक छोटा-सा घर इनकी जरूरतों को बेहतर ढंग से पूरा कर सकता था। यों भी ऐसे घर के माहौल में, जहां अपना-अपना एकान्त मिल जाने पर भी, घर के निवासी आते-जाते एक दूसरे से बार-बार मिलते रहते हैं, ज्यादा रौनक होती है। यहां पर प्रत्येक कमरा एक बहुत बड़े डिब्बे जैसा था, दूसरे डिब्बों से बिलकुल अलग-थलग। इस तरह की बनावट वाले घर में इन्सान ज्यादा अकेला पड़ जाता है, और घर के और लोगों से अलग-थलग रहने लगता है। बलराज का कमरा पहली मंजिल के एक कोने में था, जबकि तोष का निजी कमरा सबसे ऊपर वाली मंजिल पर था। तोष यों भी स्वभाव से अधिक सयंत और मितभाषी थी। रहा-सहा काम घर की बनावट पूरा कर देती थी। धन-ऐश्वर्य और सुख-सुविधा के रहते हुए भी उनके परिवेश का यह नकारात्मक पहलू अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रह सकता था।

परिस्थितियां भी अब पहले जैसी नहीं रही थीं। धीरे-धीरे बलराज का मित्रों-संबंधियों के साथ उठना-बैठना थोड़ा कम पड़ गया। वह अब लोकल गाड़ियों में गाते नहीं थे जैसे इप्टा के अपने मित्रों के साथ गाते फिरते थे। घर में अब कम लोग मिलने आते थे, और जो आते भी थे वह काम-काजी किस्म के लोग थे, जिनके पास इतना वक्त नहीं होता था कि चाय के दौर चलते रहें और वे तफरीह मनाते रहें। इसलिए अब वह बेपरवाही और यारी-दोस्ती का आलम नहीं था जो किसी जमाने में बलराज के रहन-सहन की खासियत हुआ करता

था। बलराज का जीवन अधिक गंभीर हो गया था, उनका चहकना कम हो गया था। उनका जीवन पहले से कहीं ज्यादा व्यवस्थित भी हो गया था, जिस किसी से मिलना होता, ऐन वक्त पर मिलते, एक मिनट भी इधर से उधर नहीं होने देते थे, स्टूडियो में भी बाकायदगी से वक्त पर पहुंचते, आदि-आदि। अब वह हंसी-खेल और मस्ती नहीं रह गयी थी।

पंजाब मे जाकर बस जाने की ललक अभी भी दिल में कसमसाती रहती थी, पर वह ललक किसी हद तक लेखन-कार्य से शांत हो जाती थी। बच्चे अब बड़े हो चले थे और उनकी जरूरतों को अपनी जरूरतों पर प्राथमिकता देना ज्यादा जरूरी हो गया था। परीक्षित के बचपन के कुछेक साल पंजाब मे बीते थे, बाद मे वह सनावर में तथा दिल्ली के सेंट स्टीफन्स कालिज मे पढ़ता रहा था, पर छोटे दोनों बच्चों, शबनम और सनोबर, का पंजाब के साथ नाममात्र का ही संबंध रहा था। वे मूलत. बंबई की ही रहने वाली थीं, पंजाब की नहीं। बंबई छोड़ने में यह जहाज जैसा घर भी रुकावट बनने वाला था। भले ही दिल मे कभी भी ललक उठे, और मनुष्य कुछ चीजों के लिए तरसता रहे, पर इन्सान के बहुत से फैसले उसकी तत्कालिक परिस्थितियां ही करती हैं, और बलराज की परिस्थितियां उत्तरोत्तर पेचीदा होती जा रही थीं। इस तरह बलराज बंबई में ही बने रहे, हां, पंजाब की यात्रा वह पहले से कहीं ज्यादा करने लगे। वह कभी पंजाब के गांवों मे घूमते तो कभी छोटे-छोटे शहरों मे नाटक खेलते। इस पर लेखकों, कलाकारों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ उनकी चिट्ठी-पत्री बड़े विस्तृत पैमाने पर चलती रहती जिससे पंजाब के जीवन के साथ उनका संबंध बना रहता।

और भी अनेक बातें हुईं। माता जी और पिता जी उनके पास बंबई मे रहने के लिए चले गये थे। 1957 मे, मेरे मास्को जाने के कुछ देर बाद, पिता जी की सेहत को एक धक्का लगा था, और बलराज ने यही ठीक समझा कि उन्हें दिल्ली मे अकेला नहीं रहने दिया जाये। वह दोनों को अपने साथ बंबई ले गये। बलराज ने, जितना उनसे बन पड़ा, उनकी सेवा की, पर जीवन भर के यह प्रेम-बंधन, अब शीघ्र ही टूटने वाले थे। 1961 में पिता जी का देहांत हो गया, और उसके कुछ साल बाद, मां चल बसी। इस काल मे, कभी-कभी वे दिल्ली मे रहने चले आते, और बलराज, उनकी देख-रेख के लिए बार-बार दिल्ली के चक्कर काटते रहते। इस कारण भी बलराज की जिम्मेदारियां बहुत कुछ बढ़ गयी थीं।

1965 मे परीक्षित, मास्को से लौट कर आये। वहां वह गोर्की-सिनेमा इंस्टीट्यूट मे फिल्म निर्देशन की तालीम पाते रहे थे। फिल्मों के ऐसे वातावरण

में शिक्षा ग्रहण करने के बाद जो भारत के फिल्मी माहौल से बहुत कुछ अलग था, तथा बोंदारचुक जैसे सोवियत फिल्म उद्योग की महान विभूतियों के साथ काम कर चुकने के बाद —परीक्षित के लिए यहां की स्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल पाना कठिन होने लगा। वह इस बात को भी बहुत महसूस करते थे कि फिल्मों में उन्हें इसलिए काम दिया जा रहा है कि वह बलराज साहनी के पुत्र हैं। वह अपने पांव पर खड़ा होना चाहते थे और चाहते थे कि एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में उन्हें जाना जाये। हर बाप यही चाहता है कि उसके बेटे को उन कड़े संघर्षों में से नहीं गुजरना पड़े जिनका सामना उसे स्वयं करना पड़ा था, वह चाहता है कि उसका बेटा उसके अनुभव से लाभ उठाये। बलराज के लिए पिता जी यही कुछ चाहते रहे थे, और अब बलराज, अपने बेटे के लिए यही कुछ चाहते थे। कुछ वक्त के लिए तो परीक्षित बड़ा अकेला महसूस करते रहे, क्योंकि वह फिल्म उद्योग के साथ अपना कोई तालमेल कायम नहीं कर पा रहे थे। बाप-बेटा भी एक दूसरे को ठीक तरह से समझ नहीं पा रहे थे। परिणामतः दोनों ओर थोड़ा-बहुत तनाव बना रहा। बचपन में बच्चे एक सुव्यवस्थित पारिवारिक जीवन की सुविधाओं से वंचित रहे थे। बलराज सदा इस बात को गहरे में महसूस करते रहे थे कि बच्चे उस देख-रेख से वंचित रहे थे जो मां-बाप की ओर से उन्हें मिलनी चाहिए थी, कि उनके पहले घर में इतना शोर-गुल हुआ करता था कि बच्चों की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया जाता था। और बाद में उन्हें पब्लिक स्कूलों में पढ़ने के लिए भेज दिया गया था। पारिवारिक जीवन के इस पहलू का भी बच्चों के मानसिक गठन पर प्रभाव पड़ना जरूरी था, और इससे भी, किसी हद तक, एक दूसरे को समझने और एक दूसरे के अनुरूप अपने को ढालने में कठिनाई पेश आने लगी थी।

शायद इस स्थिति में सबसे ज्यादा कष्ट शबनम (दमयन्ती से बलराज की बेटी) को सहना पड़ा। शबनम का जन्म इंगलैंड में 1943 में हुआ था, और जिस समय उनकी मां की मृत्यु हुई थी, वह केवल साढ़े तीन बरस की थी। उनके बचपन के दिनों में बलराज इप्टा के काम में और फिल्मों में अपने आरम्भिक संघर्ष में बहुत कुछ खोये हुए थे। उनकी माली हालत भी अच्छी नहीं थी। बाद में बच्चों को पढ़ाई के लिए सनावर के लारेंस स्कूल में भेज दिया गया था। बलराज को अपने बच्चों से गहरा प्रेम था, विशेष कर शबनम से, जिसके बारे में एक प्रकार की अपराध-भावना भी बलराज के मन को कचोटती रहती थी कि वह अपनी बच्ची को, जिसे उसकी मां मरते समय उनकी देख-रेख में सौंप गयी थी, तन-मन से उसकी ओर ध्यान नहीं दे पा रहे थे।

बड़ी होने पर शबनम एक बड़ी सुंदर युवती निकली थी। उसका स्वभाव भी,

अपनी मां के स्वभाव जैसा ही मिलनसार और हंसमुख था। वह टेनिस भी बहुत बढ़िया खेलती थी। उसकी शक्ल-सूरत भी अपनी मां से बहुत मिलती-जुलती थी जिस कारण भी वह बलराज तथा परिवार के अन्य सदस्यों को बड़ी प्यारी लगती थी।

पर जीवन के हाथों उसे बहुत दुःख झेलने थे, और इसके साथ ही बलराज को भी। बंबई विश्वविद्यालय से बी.ए. की परीक्षा पास करने के बाद उसकी शादी कर दी गयी, पर शीघ्र ही विवाह में परेशानियां पैदा होने लगीं। इसका प्रमुख कारण यह था कि विवाह के बाद शबनम एक ऐसे परिवेश में रहने लगी थी जो उस परिवेश से बिल्कुल भिन्न था, जिसमें शबनम का लालन-पालन हुआ था। उसे नौकरी पेशा लोगों के घर में ब्याहा गया था, जहां रहन-सहन के तौर-तरीकों को बहुत महत्व दिया जाता है—मितव्ययिता, आमदनी-और-खर्च का तान-मेल बैठाना, पर साथ ही साथ बाहरी दिखावा, आडंबर आदि—जो उसके लिए बड़ा कठिन साबित होने लगा था—उसे न तो इसका कोई अनुभव था और न ही ऐसे माहौल में रह पाने के लिए उसे प्रशिक्षित ही किया गया था। इसके विपरीत उसके अपने घर में उसका जीवन बड़ा स्वच्छंद और लापरवाह रहा था। एक और भी बहुत बड़ी अड़चन उसके रास्ते में थी—गृहस्थी चलाने के काम के बारे में वह कुछ भी नहीं जानती थी जबकि नौकरी पेशा लोग इसे सबसे अधिक महत्व देते हैं। शबनम को बलराज की आर्थिक कठिनाइयों की तो कोई याद नहीं थी, उसका लड़कपन, सुख-सुविधा और ऐश-आराम में बीता था, इसलिए नाप-तोल कर घर का खर्च चलाने वाला स्वभाव उसका नहीं था। इस बात के बावजूद कि वह इस बारे में बड़ी चिन्तित रहने लगी थी और बड़ी सतर्क भी, फिर भी उसने अपने को ऐसी परिस्थिति में पाया कि वह शीघ्र ही घबरा उठी। एक सुगढ़ गृहिणी के नाते उससे जो अपेक्षाएं की जाती थीं, उन पर पूरा उत्तर पाना उसके लिए बड़ी कठिन साबित होने लगा था। शीघ्र ही शबनम घबरा गयी और अपना आत्मविश्वास खो बैठी। यदि उस समय उसे स्नेह और सद्भावना मिलती तो उसके लिये नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढालना आसान हो जाता। पर ऐसी सद्भावना हमारी समाज के रिश्ते-नातों में कहां मिलती है।

बलराज के मन का चैन जाता रहा और वह शबनम की स्थिति को बेहतर बना पाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाने लगे। बलराज उन भावुक व्यक्तियों में से थे जिनके जीवन का संचालन विवेक नहीं, उत्कट भावना करती है। न तो उनमें व्यवहार-कुशलता थी और न धैर्य ही था। यह जान कर वह और भी ज्यादा विचलित हुए कि शबनम उनसे बहुत कुछ छिपाने लगी है, ताकि उसकी

परेशानियों के कारण उसका पिता चिन्तित और दु.खी न हो। अपने पारिवारिक जीवन के बारे मे वह स्वयं कुछ भी बलराज से नही कहती थी। मामला बिगड़ता गया, यहां तक कि एक दिन शबनम ने अपनी जान पर खेल जाने की कोशिश की।

हमारे देश में जब विवाह पटरी पर नही बैठता तो लड़की के पिता के सामने एक ही विकल्प रह जाता है कि वह बेटी को अपने घर वापिस लिवा लाये। उसके लिए और सब रास्ते बंद होते चले जाते हैं। पर इससे स्थिति सुधरती नही। वास्तव में लड़की की स्थिति बेहतर तभी बन सकती है जब वह अपनी जीविका स्वय कमा पाने के योग्य हो जाये, ताकि जरूरत पड़ने पर वह अपने पैरो पर खड़ी हो सके।

बच्ची इतनी परेशान हो उठी थी कि उसने अपनी जान देने की कोशिश की। सबसे दु.खद बात यह थी कि वह गृहिणी के दायित्वो को निभा पाने मे अपनी असमर्थता के लिए सारा वक्त अपने को ही दोष देती रहती थी, अपने को ही कोसती रहती थी।

शीघ्र ही शबनम का आत्मविश्वास टूट-फूट गया, और एक मनोवैज्ञानिक उसका इलाज करने लगे। किसी-किसी वक्त वह अपना मानसिक संतुलन फिर से ग्रहण कर लेती, और पहले की ही भांति हंसने-चहकने लगती, फिर से उसमे थोडा-बहुत आत्म-विश्वास आ जाता, पर फिर शीघ्र ही उदास हो जाती, अनिश्चय मे डोलने लगती, और उसे सूझ नही पाता था कि वह किस ओर जाये, क्या करे।

एक तरह से बलराज अकेले ही इस समस्या से जूझ रहे थे। परीक्षित अपनी परेशानियों मे उलझा हुआ था, साथ ही वह अभी उम्र मे छोटा था और जिस तरह स्थिति गंभीर और जटिल होती जा रही थी उसे वह समझ भी नही पा रहा था। संतोष अपनी जगह चिन्तित थी, और जहा तक उससे जो बन पड़ता था, वह करती थी, पर निर्णय का दायित्व अक्सर अकेले बलराज को ही झेलना पडता था। बलराज स्वयं इतने घबराये हुए, और चिन्तित थे कि उनके लिए धैर्य से सोच-विचार कर, स्थिति को समझ पाना और वांछित कदम उठाना अत्यत कठिन हो गया था।

अपने एक पत्र मे उन्होने मुझे लिखा :

"मुझ मे दुनियावी सूझ न के बराबर है। मैं इसका फैसला भी नही कर सकता कि सही क्या है और गलत क्या है, पर इस समय मेरी बेटी की जिन्दगी का सवाल है, और मुझे अपनी ही छोटी-सी अक्ल का सहारा लेना पड रहा है। अगर मेरे इरादे नेक हैं, तो भगवान मेरी सुनेंगे और मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे! ...मेरा प्यार ही मुझे रास्ता सुझा रहा है, और मुझे उम्मीद है कि मैं

इस इम्तहान की घड़ी को पार कर पाऊंगा।...इस समय मेरी बेटी सनोबर ही मेरा एकमात्र सहारा है। भगवान मेरी जिन्दगी के शेष वर्ष इसकी जिन्दगी मे जोड़ दें, उसकी तारीफ करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।...शबनम स्कूल में पढ़ाने लगी है, वह पूरी तरह सचेत है। पर अपने बारे में बड़ी लापरवाह है। कभी-कभी वह बहुत ज्यादा बोलने-बतियाने लगती है, कभी बिल्कुल चुप हो जाती है। इसमें वक्त लगेगा..."

अपने पत्रो में वह बार-बार स्थिति की गभीरता को कम करके दिखाने की कोशिश करते, ताकि हम लोग अधिक चिन्तित न हों, हालांकि मन ही मन वह जानते थे कि स्थिति बिगड़ रही है। एक बार उन्होंने लिखा :

"तुम ठीक कहते हो। अगर घटनास्थल से कुछ देर के लिए आदमी चला जाये, तो वह स्थिति को ज्यादा तटस्थ होकर देख सकता है। पर यह तभी संभव है जब हालात इसकी इजाजत दें...पर तुम चिन्ता नही करो। मेरे भाग्य मे यही बदा है कि मेरे जीवन मे सारा वक्त नाटक चलता रहे।

'मुश्किलें इतनी पड़ी मुझ पर कि आसां हो गयी।'

पर उनकी चिन्ता और बेचैनी बराबर बढ़ती गयी। उनकी चिट्ठियों में अधिकाधिक उदासी झलकने लगी।

अगस्त, 1968 मे मद्रास से उन्होने अपने एक पत्र में लिखा :

"मुझे यहा आये दो दिन बीत चुके हैं। आज तीसरा दिन है...पहले दिन मेरा मन बड़ा बेचैन था। पर मैंने देखा कि जब व्यक्ति घटनास्थल से कही दूर चला जाये तो असह्य चिन्ताएं भी धीरे-धीरे कम असह्य होने लगती हैं।..."

उसके अगले महीने, किसी फिल्म की शूटिंग के सिलसिले में वह मनाली में थे। वहां से उन्होंने लिखा :

"यहां मौसम बेहद खुशगवार है। पर मेरा मन चिन्ताओ और परेशानियों से इतना ग्रस्त है, कि उस ओर मेरा ध्यान ही नही जाता।"

(18 सितंबर, 1968 का पत्र)

अप्रैल 1970 मे परीक्षित का विवाह, चेतन आनद की भाजी, अरुणा के साथ सम्पन्न हुआ। शबनम की स्थिति मे कोई सुधार नही हुआ। बलराज की मानसिक यातना भी बराबर बनी रही। अगस्त, 1970 मे उन्होने लिखा :

"शायद मेरे खत ने तुम्हे परेशान किया हो। मुझे माफ करना। असल मे किसी बात को दिल से लगा लेना बहुत बड़ी बेवकूफी होती है, जिन्दगी बेहद खूबसूरत चीज है। हर दिन एक नेअमत होता है, एक बख्शिश ! वे गिनी-चुनी घड़ियां कितनी सुदर थी जब मैं नगीन झील मे तैर रहा था। यह सच है कि चिन्ताएं मनुष्य को बौना बना देती है। भविष्य मे मैं इस बात की पूरी-पूरी

कोशिश करूंगा कि चिन्ताएं मुझे परेशान नहीं करें। बेमतलब ही इन्सान अपना नुक्सान करता है, उनसे *मिलता-मिलाता कुछ नहीं*।

तुम्हें यह जान कर खुशी होगी कि मैं उस मनहूस नाटक पर फिर से काम करने लगा हूं, और मेरा मन उसमें खोने लगा है। अबकी बार मैं उसे खत्म करके दम लूंगा...

जितनी हिम्मत के साथ वह स्थिति का मुकाबला करने और उसे सुलझाने की कोशिश कर सकते थे, करते रहे, पर उन्हें कामयाबी नहीं मिल रही थी। शबनम की हालत बराबर बिगड़ती गयी।

"*मेरी जिन्दगी में कोई व्यवस्था नहीं। वह उसी पुराने ढर्रे पर चल रही है।* पिता के नाते भी और पति के नाते भी मैं जिन्दगी में नाकामयाब साबित हुआ हूं। कभी-कभी जब जिन्दगी जीने योग्य लगती है तो मैं थोड़ा-बहुत लिख लेता हूं। ऐसी घड़ियों में लगता है, जैसे मैं जिन्दगी को अपनी बाहों में भर लेता हूं। पर अब सूरज कम चमकता है, ज्यादा वक्त बादल ही छाये रहते हैं।"

(*13 दिसंबर, 1971* का पत्र)

केवल एक हफ्ता बाद उन्होंने लिखा :

"*मैं ऐसी स्थिति में पहुंच गया हूं कि मेरी समझ में ही नहीं आता कि सही* क्या है और गलत क्या। जो मुझ पर पड़ी है, मुझे उसे सहना ही होगा।..."

(19 जनवरी, 1972 का पत्र)

इस बीच शबनम के सिर में एक '*क्लाट*' पैदा हो *गया था*, जिसकी ओर डाक्टरों का ध्यान नहीं गया। वह कभी-कभी कहती कि उसे आंखों के सामने एक-एक नहीं दो-दो चीजें नजर आती हैं, पर मनोविज्ञानशास्त्री और परिवार का डाक्टर यह कह कर उसे रद्द कर देते थे कि अवचेतन में शबनम लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर पाने के लिए और उनकी सहानुभूति प्राप्त करने के लिए ऐसा कहती है।

और इन दुखद *स्थितियों में, 5 मार्च, 1972* के दिन, शबनम चल बसी। उसकी मृत्यु के समय बलराज बंबई में नहीं थे, वह मध्यप्रदेश में चुनाव की मुहिम में भाग लेने गये हुए थे।

शबनम की मृत्यु से बलराज के अंदर कुछ टूट गया, जो फिर से जुड़ नहीं पाया। और बलराज पहले वाले बलराज रह नहीं पाये। उन्होंने इस सदमे में से उबर पाने के लिए बहुतेरी कोशिश की, अपनी सरगर्मियों में फिर से जी-जान से जुट गये, काम में ही अपने दुख को डुबो देना चाहा, पर यह उत्तरोत्तर कठिन और असाध्य होता गया।

फिल्म 'गर्म हवा' में एक दृश्य है जिसमें एक बेटी आत्महत्या कर लेती है।

उसका पिता—जिसकी भूमिका में बलराज ने स्वयं अभिनय किया है—यह देख पाने के लिए कि क्या हुआ है, कमरे में दाखिल होता है। फिल्म में वह सबसे दर्दनाक दृश्यों में से है और बलराज, एक शब्द भी बोले बिना आंखों ही आंखों में एक बाप के दिल की सम्पूर्ण वेदना व्यक्त कर देते हैं। इस दृश्य की बड़ी सराहना हुई थी और कहा गया था कि वह सीन बलराज की अभिनय कला की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। लोग यह नहीं जानते थे कि बलराज अभिनय नहीं कर रहे थे, वह मात्र एक ऐसी स्थिति में फिर से जी रहे थे जिसका भयावह अनुभव वह पहले कर चुके थे।

अंतिम चरण

इसके बाद बलराज ने चुप्पी साध ली, अपनी आंतरिक व्यथा पर मूक हो गये, और जहां तक हो सका, सामान्य ढंग से अपना काम-काज करने लगे। फिल्मों का काम उन्होंने बहुत कुछ कम कर दिया ताकि लेखन-कार्य को अधिक समय दे सकें। दो-एक साल पहले, प्रीत नगर में उन्होंने एक छोटा-सा बंगला खरीद लिया था। उसकी मरम्मत करवा कर उसे साज-सामान से लैस करवा दिया, ताकि वह पंजाब में जब-जब जायें, ज्यादा समय के लिए रह सकें। यहां तक कि वह अपनी पुरानी मोटरगाड़ी भी मेरे पास छोड़ गये, ताकि ज्यादा आसानी से पंजाब में घूम-फिर सकें।

"गर्म हवा" देश के बंटवारे के बाद मुसलमानों की विकट स्थिति को व्यक्त करने वाली फिल्म है, वही बलराज की अंतिम फिल्म थी, एक तरह से विदाई फिल्म। इस फिल्म में बलराज ने आगरा के एक मुस्लिम व्यापारी की भूमिका में अविस्मरणीय काम किया है, जो अपने ही देश में अजनबी बन जाता है। बलराज ने बंटवारे के समय होने वाली तबाही-बरबादी को देखा था, अपने परिवार की यातना को देखा था, जिसे अपना घर छोड़ कर तरह-तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ा था। कहानी में मुस्लिम व्यापारी की बेटी मर जाती है। बलराज का अभिनय बड़ा प्रामाणिक है और दिल को गहरे में छूता है क्योंकि बलराज के दिल का अपना दर्द उसमें व्यक्त हुआ है। जिस गरिमा, स्वाभिमान और शालीनता के साथ वह मुस्लिम व्यापारी फिल्म में व्यवहार करता है, वह भी बलराज के अपने स्वभावगत गुणों के कारण। बलराज का यह विदाई अभिनय, उनका सर्वोत्कृष्ट अभिनय था।

पर बलराज अपने को तोड़ रहे थे। उन्होंने "बापू की कहेगा" नाटक समाप्त किया और अपने नावेल पर जम कर काम करने लगे। फिर से एक बार पंजाब में रह पाने और अपना सारा समय साहित्यिक काम को दे पाने का उनका

पुराना सपना एक जनून की तरह उनके मन पर छाने लगा था। उन्हें पूना की फिल्म इंस्टीट्यूट का प्रिंसिपल बनाने की भी तजवीज थी जिसके बारे में जानकारी हमें उनकी मृत्यु के बाद मिली, जब उनकी मृत्यु की पहली वर्षगांठ के दिन, सूचना तथा प्रसारण विभाग के तत्कालीन मंत्री, श्री इन्द्रकुमार गुजराल ने अपने भाषण मे इसका जिक्र किया। 1972 मे उन्हे पंजाब मे गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय की सेनेट का सदस्य मनोनीत किया गया। उन्हें राज्य सभा की सदस्यता का न्यौता भी दिया गया था, पर उन्होने इसे मजूर नही किया। अपना फिल्मी काम भी वह धीरे-धीरे कम करते जा रहे थे, पर सामाजिक सरगर्मियो मे से अपने को निकाल पाना उनके लिए संभव नही था। जहां कहीं कोई संकट उठ खड़ा होता, बलराज सब कुछ भूल कर वहा जा पहुंचते थे। वह फिर से यात्राएं करने लगे थे, नाटक भी खेलते और साथ ही बबई मे अपने काम को भी समेटने लगे थे।

नवबर, 1972 मे बलराज को दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया। हमारे विश्वविद्यालयों के इतिहास में वह पहला अवसर था जब एक फिल्मी कलाकार को यह सम्मान दिया जा रहा था। अनेक किताबी किस्म के बुद्धिजीवियों ने नाक-भौं सिकोड़े थे। यहां तक कि विश्वविद्यालय के अध्यापकों और छात्रों को भी इस प्रस्ताव की बुद्धिमत्ता पर शक होने लगा था। कान्वोकेशन के दिन प्रातः, अखबारों में इस आशय के पत्र भी प्रकाशित हुए जिनमें इस बात की खिल्ली उडायी गयी थी कि एक ऐक्टर कान्वोकेशन भाषण देने जा रहा है। पर भाषण इतना प्रेरणाप्रद और प्रभावशाली साबित हुआ कि आलोचना करने वाले सभी लोग भी उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सके।

वह भाषण नही था, सपाट बयानी थी, जो बलराज ने अपने खास अंदाज में, सीधी-सादी दो-टूक भाषा में और सहज-स्वाभाविक ढंग से पेश की थी। वह भाषण नही दे रहे थे, छात्रों के साथ बातें कर रहे थे। भाषण में छोटे-छोटे किस्से, चुटकुले, निजी अनुभव, यादें, आदि के साथ-साथ अनेक सारगर्भित टिप्पणियां और निर्देश भी थे, जिन्हें बड़ी दो-टूक भाषा में बयान किया गया था और जिन्हे सुन कर छात्र-समुदाय मानो चौंक कर उठ बैठा हो। भाषण में मुख्यत. स्वतंत्र चिन्तन पर बल दिया गया था। उन्होने कहा :

"मैं जिस ओर भी आंख उठा कर देखता हूं, मुझे लगता है कि आजादी के पच्चीस वर्षों के बाद भी हमारी स्थिति उस पक्षी की-सी है जिसे बहुत दिन तक पिंजरे में बंद रखे जाने के बाद रिहा कर दिया गया हो। वह नही जानता कि अपनी आजादी का क्या करे। उसके पास पंख हैं पर उसे खुली हवा में उड़ने

से डर लगता है। वह नपी-तुली सीमाओं के अंदर पिंजरे के अंदर ही बने रहना चाहता है।"

बलराज के अनुसार, आजाद आदमी वह है जिसमें सोचने की क्षमता हो, जो अपने लिए फैसला करने और उस पर अमल करने की ताकत रखता हो, "पर एक गुलाम इस ताकत को खो बैठता है। वह अपनी सारी सोच और लोगों से उधार में लेता रहता है, निर्णय करते समय द्विविधा में डोलता रहता है, और अक्सर घिसी-पिटी लीक पर ही चलने लगता है।"

और बलराज ने अनेक उदाहरण देकर यह दिखाने की कोशिश की कि किस तरह लगभग जीवन के सभी क्षेत्रों में हम पश्चिमी देशों का मुंह जोहते रहते हैं कि वे हमें रास्ता सुझायें। अन्य क्षेत्रों की तुलना में सांस्कृतिक क्षेत्र में तो यह और भी ज्यादा स्पष्ट है। हमारी फिल्में पाश्चात्य फिल्मों की नकल होती हैं।

"हमारे उपन्यासकार, कहानीकार, कवि बड़ी आसानी से यूरोप में उठने वाले फैशनों के बहाव में बहने लगते हैं। उधार ली हुई और बढ़ा-चढ़ा कर पेश की गयी सोच, हर क्षेत्र में किसी न किसी रूप में मौजूद रहती है, यहां तक कि हम अपनी चीजों की कद्र भी तभी करने लगते हैं, जब विदेशी लोग उन्हें सराहते हैं। स्वीडन से नोबेल पुरस्कार मिलने के बाद ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर समूचे भारत में गुरुदेव के नाम से पुकारे जाने लगे थे और सितार, हमारी मौसीकी साज तभी उत्कृष्ट साज माना जाने लगा था जब अमरीकियों ने रविशंकर की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और, मैं आपको यकीन दिलाता हूं, *अपनी जननी मातृभूमि में योगविद्या भी तभी लोगों को प्रभावित कर पायेगी* जब उसे यूरोप में प्रमाण पत्र प्राप्त हो जायेगा।"

वह किताबी भाषण नहीं था, न ही कोई औपचारिकता निभाने के लिए दिया गया था। बलराज ने सीधा छात्र समुदाय को सम्बोधित किया था और उनके मुंह से निकलने वाले एक-एक शब्द ने अपना असर छोड़ा। यह केवल स्वतन्त्र चिन्तन के लिए आग्रह नहीं था; यह अपनी गुलामाना जहनियत को छोड़ पाने के लिए आवश्यक साहस जुटाने और ऐसे मूल्यों की रचना करने का आग्रह था जो एक आजाद और स्वावलंबी देश के नागरिकों को शोभा देते हैं।

सार्वजनिक कामों में बलराज पहले ही की भांति बड़ी तन्मयता के साथ काम कर रहे थे, पर उनके लिए उस आंतरिक व्यथा पर काबू पाना कठिन हो रहा था जो सारा वक्त उनके दिल को मथती रहती थी।

"फिल्मी काम कम कर देने से मुझे समय तो बहुत मिलने लगा है, पर अक्सर मेरा मस्तिष्क बिल्कुल खाली हो जाता है, और मेरी समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूं।..."

अपने उसी पत्र में फिर से अज्ञातवास में लौट जाने की संभावना के बारे में हल्के-फुल्के ढंग से चर्चा करते हैं। वह लिखते हैं..."

"यह सोच कर ही दिल बैठ जाता है कि मैं भी किसी दिन असंख्य लोगों की-सी स्थिति में पहुंच जाऊंगा। फिर उन बड़ी-बड़ी प्रगतिशील घोषणाओं का क्या रह जायेगा? जब मैं नजर घुमा कर देखता हूं तो मैं पाता हूं कि लगभग मेरे सभी प्रगतिशील दोस्त भी वैसे ही हैं। सारा वक्त ये जनता की बात करते हैं, पर व्यवहार में, उनकी ताकत जनता से ऊपर उठने मे खर्च होती रहती है, वे कुछ बन पाने मे, नाम कमाने और प्रसिद्धि हासिल करने में लगे रहते हैं। मैं सोचता हूं कि यही हमारे जीवन का मूल अंतर्विरोध है। अक्सर हम उसके प्रति सचेत भी नही होते। . बचपन से ही हमारे लालन-पालन और हमारी तालीम से यह बात हमारे मन मे घर कर जाती है कि वही काम महत्वपूर्ण है जिसके फलस्वरूप धन प्राप्त किया जा सकता है या समाज में आगे बढ़ा जा सकता है। हम भले ही उस काम की प्रशंसा करें, जिससे ऐसा फल प्राप्त नही होता है। बढ़ा-चढ़ा कर उसे आदर्शमण्डित करें, और भले ही उसके लिए हमारे दिल में ललक भी हो, पर ऐसा भी हम सुरक्षा और सुख-सुविधा के धरातल पर खड़े होकर ही करते हैं।" (मार्च, 1973 का पत्र)

मार्च, 1973 की उनकी डायरी में एक पन्ना है, जो उनके दिल की असह्य आंतरिक पीड़ा को व्यक्त करता है। वह जितनी भी कोशिश करें, उनके लिए शबनम को, और इस दारुण अपराध-भावना को मन से निकाल पाना असंभव हो रहा था कि वह शबनम की समस्याओं को सुलझाने मे सर्वथा असमर्थ रहे थे। अगर बलराज अपने मन की बात जबान पर ले आते, अपने नजदीकी मित्रों-संबंधियों से अपने क्लेश की चर्चा करते तो शायद उनके मन को ढाढस मिलती। पर इसे जीवन की विडम्बना ही मानना होगा कि हम सदा ऐसा ही सोचते हैं कि ऐसा किया होता तो यह हो जाता, उसका यह फल निकलता। ऐसी बातों की चर्चा हम उस समय करते हैं जब बाजी हार चुके होते हैं। लगभग दो महीने पहले, बलराज दिल्ली आये थे, और मैं और मेरी पत्नी उन्हें, एक शाम, एक नाटक दिखाने ले गये थे। नाटक देखते समय हमने पाया कि नाटक एक ऐसी युवती की यातनाओं के बारे में है जो विवाह के बाद बस नहीं पाती। कहानी मे बड़ा दर्द था, वैसा ही जैसा शबनम के जीवन मे रहा था। मैंने कनखियों से बलराज की ओर देखा, उनकी आंखों से आंसुओं की धारा बह रही थी। पर जब अंतराल हुआ, और हाल मे बत्तियां जग गयी, तो बलराज इस तरह व्यवहार करने की कोशिश कर रहे थे मानो कुछ हुआ ही न हो, उन्होंने रूमाल से अपना आधा चेहरा ढका हुआ था, ताकि लोग

उन्हें पहचान नहीं पायें। इस तरह वह अक्सर अपना चेहरा ढांप लिया करते थे। और जब हमने नाटक को अंत तक देखे बिना बीच मे से उठ जाने का फैसला किया तो वह बार-बार इसरार करते रहे कि हमें नाटक देखते रहना चाहिए। उन्हें इस बात का बड़ा खेद हो रहा था कि उन्होंने हमारा मजा खराब किया है।

3 मार्च, 1973 की अपनी डायरी में, अपनी मृत्यु के लगभग डेढ महीना पहले, उन्होंने लिखा :

"प्यारी शबनम को हमसे सदा के लिए जुदा हुए एक साल बीत गया है। मुझमें इतना साहस नहीं है कि किसी से पूछूं कि ठीक किस तारीख को उसकी मौत हुई थी। यह मैंने अपनी अंतःप्रेरणा से अनुमान लगाया है। उसका जन्म 3 नवंबर को हुआ था, 3 मार्च को उसकी मृत्यु।

"बहुत दिन पहले मैंने सोचा था कि उस दिन मैं अनशन करूंगा। प्रातः सात बजे मैं समुद्र-तट पर चला गया, दिल में अत्यंत दुःखी था। मैंने सोचा, घंटे दो घंटे मे तबीयत कुछ संभल जायेगी। भविष्य मे कैसे जियूं, शायद इसके लिए मुझे कुछ रोशनी मिल जाये। पर नही। मेरी व्याकुलता बढ़ती गयी।.. मेरी नज़र तट पर पड़े स्याह रंग के एक पत्थर पर पड़ी। उसको लक्ष्य बना कर मैं यह समझने की कोशिश करता रहा कि लहर उठ रही है या पीछे की ओर जा रही है। बहुत देर तक मुझे ऐसे ही संकेत मिलते रहे जैसे लहर उठ भी रही है और उतर भी रही है। मैं उस पत्थर के पास गया तो मैंने पाया कि वह किसी के पैर का निशान था। लहर उठ रही थी। पैर का निशान लहर मे मिट गया। उसी समय मेरा ध्यान एक खेत के चूहे की ओर गया जो बालू मे इधर-उधर भटक रहा था। शायद वह पास ही किसी बाग़ मे से निकल कर समुद्र तट की ओर चला आया था। अब वह थक गया था, और प्यास के मारे बार-बार पानी की ओर बढ रहा था, यह सोच कर कि एक खतरे के माध्यम से उसे दूसरे खतरे से छुटकारा मिल जायेगा। लहर आयी और उसे भिगो गयी। चूहा उसे भाग्य की देन मान कर वहीं पर लेटा रहा। उसमें इतनी ताकत नहीं थी कि अपने अंग हिला-डुला पाता या संघर्ष कर पाता। शीघ्र ही उसे मुक्ति मिल गयी।

"मैं भी ऐसी ही मुक्ति के लिए तरसने लगा हूं।

"कुछ देर बाद कबीर बेदी अपने नन्हे बच्चे को साथ लिए आकर मेरे पास बैठ गया। मैंने झट से बच्चे के साथ दोस्ती गांठ ली। जमाना था जब मैं इसी तरह शबनम के साथ खेला करता था और उसे समुद्र-तट पर दौड़ाया करता था। हम दोनों उसका एक-एक हाथ पकड़ कर उसे झुलाया करते और उससे

कहा करते कि देखो, शबनम हवाई जहाज बन गयी है।

"कुछ दूरी पर परीक्षित अपने किसी मित्र के साथ बैठा था। आज वह बड़ा स्वस्थ और सुंदर लग रहा था। भगवान उसकी उम्र लंबी करे, और उसे कामयाबी नसीब हो। मैं चलता हुआ उनसे थोड़ा हट कर बैठ गया। यहां पर कुकी और अंजू आकर मुझसे मिले। कुकी घूमने निकल गया और अंजू नजदीक ही बालू पर लेट गयी और बालू में रेखाएं खींचने लगी।

"अंत में वे भी चले गये। लगभग एक बजे का समय था।...मुझे गहरे अवसाद और खालीपन ने घेर लिया। तभी मैंने एक बात का फैसला कर लिया कि मैं पंजाब में ही रहूंगा, और पंजाब में ही मरूंगा।

"...*जब मैं घर की ओर लौटने लगा तो मुझे लगा जैसे शबनम मुझे बुला रही है* : "डैडी आओ ना' आओ ना, डैडी।"

8 अप्रैल को, अपनी मृत्यु के केवल पांच दिन पहले बलराज ने एक छोटा-सा पत्र मुझे लिखा कि वह 13 अप्रैल को पंजाब के लिए रवाना हो जायेंगे और इस बात का इसरार किया कि मैं भी उनके साथ चलूं। मैंने जिंदगी भर बलराज की कोई चिट्ठी नही फाड़ी थी, पर इसे भाग्य की विडम्बना ही कहिये मैंने इस खत को फाड़ डाला, यह सोच कर कि उस खत मे कोई भी खास बात नही है, इतनी सूचना भर ही तो है कि वह पंजाब जा रहे हैं। पहले भी तो वह इस तरह के पत्र लिखते रहते थे, भले ही मैंने कभी भी उन्हें फाड़ा नहीं था। पर अफसोस ! अब, जबकि सचमुच पंजाब में लौटने के लिए वह कृत-संकल्प थे, वह पंजाब नही पहुंच पाये।

13 अप्रैल, 1973 को, बैसाखी के दिन, जो पंजाबियों मे बड़ा शुभ दिन माना जाता है, बलराज चल बसे। निश्चय से तो कुछ नही कहा जा सकता, पर लगता है उनका आंतरिक क्लेश ही, दिल के उस भयानक दौरे का कारण बना था, जिससे उनकी मृत्यु हुई। उनकी सेहत बड़ी अच्छी थी। बड़े हृष्ट-पुष्ट और तन्दुरुस्त थे, केवल एक बार, "गर्म हवा" की शूटिंग के दिनो मे, जो *आगरा मे चल रही थी, उन्होने तबीयत ठीक न होने की शिकायत की थी,* पर फिर यह कह कर कि शायद हाजमे की गड़बड़ी है, बात को मन से निकाल दिया था। जिस दिन प्रातः उन्हें दिल का दौरा हुआ, उस दिन भी वह पूरी तरह स्वस्थ थे। रोज की तरह नियमानुसार वह समुद्र मे तैरने गये थे, व्यायाम किया था, और स्टूडियो मे जाने की तैयारी कर रहे थे। वह स्टूडियो से टेलीफोन का इन्तजार कर रहे थे, जब वह थोड़ा सुस्ताने के लिए लेट गये। तभी उन्हें बेचैनी-सी महसूस हुई, और थोड़ी ही देर मे जबर्दस्त दिल का दौरा पड़ा और उन्हें नानावती अस्पताल मे ले जाया गया।

अपने स्वभाव के अनुसार ही, जब अस्पताल में बलराज को लिफ्ट के द्वारा उनके कमरे में से जाया जा रहा था, उन्होंने डाक्टर से निम्न टिप्पणी लिख लेने के लिए कहा .

"मुझे किसी बात का पछतावा नहीं है"

मैंने एक भरपूर और सुखी जीवन जिया है !"

पुनश्च

बलराज अब नहीं रहे। उनकी मृत्यु को सात से अधिक वर्ष बीत चुके हैं। लोग उन्हें स्नेह से याद करते हैं, उनके सौम्य व्यक्तित्व के लिए उनकी मानवीय सद्भावना के लिए, उनकी उत्कृष्ट कला, उनकी उपलब्धियों और हमारे सांस्कृतिक जीवन में उनके योगदान के लिए। हमारे देश मे एक कहावत है, कि मरने के बाद इन्सान एक ही चीज पीछे छोड़ सकता है, और वह है अपने व्यक्तित्व की खुशबू, जो उसके जीवन के समूचे काम और सरगर्मियो मे से फूट कर निकलती है। बलराज भी अपने पीछे ऐसी ही खुशबू छोड़ कर गये हैं। किसी को भी इससे ईर्ष्या हो सकती है।

शायद एक भाई के लिए जो उनके इतना निकट रहा हो, और जिसने उन्हे सदा आदर्श व्यक्ति के रूप में माना हो, उनका मूल्यांकन करते समय निष्पक्ष रह पाना कठिन होता है। पर मैं समझता हूं कि जीवनी मुख्यतः एक खोज होती है, क्षमताओ के उन स्रोतों की खोज, जिनसे उस व्यक्ति को ऐसा व्यक्तित्व मिला है। यह खोज उन कमजोरियों, असफलताओ अथवा त्रुटियो के कारणो के लिए नही होती, क्योंकि उनसे तो कोई भी इन्सान खाली नही है। यदि कोई व्यक्ति अपने प्रयत्नो द्वारा अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व का विकास कर पाता है और कोई विशिष्टता ग्रहण कर पाता है तो वह उन कमजोरियो, असफलताओ और त्रुटियों के बावजूद ग्रहण करता है। हम अंततः उसे उसकी असफलताओं के बल पर नही, उसकी उपलब्धियों के बल पर ही आंकते हैं, इस आधार पर कि वह समाज को क्या दे गया, उसकी उपलब्धियां क्या थी।

बलराज का व्यक्तित्व एक ही कुंदे मे से तराशा हुआ व्यक्तित्व था। उसके भीतरी और बाहरी रूप मे कोई विसंगति अथवा विरोधाभास नही था। प्रत्येक परिस्थिति में उनका आचरण अपने स्वभाव के अनुरूप ही होता था, उससे हट कर नहीं। वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि वह

बंधे-बंधाये चौखट के अंदर नहीं रह सकते थे। उनके स्वभाव में इतना लचीलापन नहीं था कि स्थिति के अनुरूप अपने को ढाल सकें। वह किसी बंधी-बंधायी लीक पर न तो चल सकते थे और न ही सोच सकते थे। "मैं लोक-कथा के उस बंदर जैसा हूं, जो आग से डरता है, पर फिर भी उसमें अपना हाथ डाले बिना नहीं रह सकता", अपने बारे में लिखते हुए उन्होंने एक बार कहा था।

जीवन के प्रति उनके दिल में इतना उत्साह था कि उन्हें देखकर और लोगों के अंदर भी ऐसा ही उत्साह जाग उठता था। जिस चीज से भी वह प्रेम करते, उसी में वह खो जाते थे, भले ही वह थियेटर हो, पंजाबी भाषा हो, या फिल्मों में उनकी भूमिकाएं हों, जिस काम को भी हाथ में लेते, उसी में गहरे उतर जाते। औपचारिक रूप से या कर्तव्य निभाने वाली भावना के साथ वह कभी कोई काम नहीं करते थे। जीवन के प्रति प्रेम और जीवन में आस्था उनके रोम-रोम में पाये जाते थे। अपने जीवन के यातना भरे दिनों में भी, वह जीवन को एक अमूल्य देन मानते थे, जिसका एक एक क्षण पूरी गहराई और उत्साह के साथ जीने योग्य है। यही कारण था कि अपनी कमजोरियों और मायूसियों से पार पाने के लिए वह कड़ी मेहनत करते थे।

जब भी वह मेरी आंखों के सामने आते हैं तो हंसते हुए, उत्साह से चहकते हुए। जब भी कभी वह दिल्ली आते, तो हम दोनों भाई अपनी पुरानी मोटर साइकिल पर निकल जाते, कभी मित्रों-संबंधियों से मिलने, कभी लंबी यात्रा पर, कभी सनावर की ओर मुंह कर देते, जहां पर हमारे बच्चे पढ़ रहे थे। घर छोड़ने की देर होती कि बलराज गीत गाने लगते या गजलों के शेअर सुनाने लगते या कोई नया लतीफा या गप्प-शप्प करने लगते। उनकी हर बात दिल से निकलती थी। उन्हें तनिक भी इस बात का ध्यान नहीं था कि कोई उनके बारे में क्या सोचता है या क्या कहता है। हमारे एक पुराने मित्र, गुल कपूर ने मुझे बताया कि एक बार, उनके बेटे के विवाह के अवसर पर, बारात के साथ जाते हुए पंजाबी चलन के अनुसार, वह बंबई की सड़कों पर, अन्य बारातियों के साथ नाचते रहे थे, इस बात की उन्होंने परवाह नहीं की कि उन्हें देख कर वहां भीड़ इकट्ठी हो गयी है। दोस्तों की महफिल में वह खूब चहकते, लतीफे, किस्से, तरह-तरह के संस्मरण सुनाते, और उनके उत्साह से उनके सुनाने वाले भी उत्साहित हो उठते थे। लंबे-लंबे सैर, जगह-जगह की यात्रा, रंग-रंग के अनुभव, तरह-तरह के लोगों से मेल-मिलाप, इन बातों में उन्हें बेहद खुशी मिलती थी।

दिल के वह बेहद स्नेहपूर्ण, उदार और उत्साही व्यक्ति थे। जीवन के अंतिम दिनों तक उन्होंने अपने स्कूल और कालिज के सहपाठियों और संबंधियों के साथ

बाकायदा संपर्क बनाये रखा। परिवार के सदस्यों के साथ भी उनका गहरा लगाव था। एक बार उन्होंने मुझे लिखा :

"जवानी ढलने लगी है, और एक दूसरे से हमारी जुदाई मुझे अखरने लगी है। तुम्हारे साथ, पिता जी और माता जी के साथ रहे बरसो बीत गये हैं। तुम सबसे दूर, जिस तरह का जीवन मैं बिता रहा हूं, वह मुझे बड़ा झूठा और मसनूई लगने लगा है...।"

एक और अवसर पर, मेरी संक्षिप्त काम-काजी चिट्ठियों से खीझ कर उन्होंने लिखा :

"मुझे तुम्हारी चिट्ठियां पसद नही आती। मुझे ऐसी चिट्ठियां अच्छी लगती हैं जिन्हें पढ़ते हुए लगे कि मैं तुमसे बगलगीर हो रहा हूं।..."

पिता जी को अपने एक पत्र मे उन्होंने लिखा :

"...आपने जैसा लिखा है, मैं वैसा ही करूंगा, पर एक शर्त पर, कि बरसात के बाद, अक्तूबर या नवंबर महीने मे, जब मौसम थोड़ा ठंडा हो जाएगा, आप और माता जी कम से कम छः महीने के लिए मेरे पास यहां आकर रहेंगे, अगर इस बीच मेरे पास मोटर आ गयी तो मैं खुद दिल्ली जाकर आपको लिवा लाऊंगा।"

सिने-अभिनेता के नाते जब उनकी स्थिति बेहतर हो गयी, और घर मे पैसा आने लगा, तो उन्हें और लोगो के अभाव का शिद्दत से एहसास होने लगा। जिस किसी के बारे मे उन्हें पता चलता कि वह तगी मे है तो बिना उसके कहे या मांगे चुपचाप उसे कुछ रकम भेज देते, और अक्सर हमारे गरीब रिश्तेदारों को मदद पहुंचाने के लिए मुझे लिख दिया करते कि मेरी ओर से अमुक के घर जाकर कुछ रकम दे आओ।

बलराज के मित्र और सहयोगी, राजेन्द्र भाटिया ने मुझे एक किस्सा सुनाया जिससे उनके स्वभाव का पता चलता है। एक दिन बलराज का टाईपराइटर चोरी हो गया। दिन बीतने लगे और उसका कुछ पता नही चला, यहां तक कि बलराज ने उसे खोजने का ख्याल छोड़ दिया। तभी एक दिन भाटिया साहिब को वह टाईपराइटर एक दुकान में पड़ा मिल गया। उन्होंने उसे पहचान लिया, और दुकानदार से पूछने पर उन्हें पता चला कि एक युवक उसे बेचने के लिए दुकानदार के पास छोड़ गया है। यह युवक और कोई नही, बलराज के ही एक पुराने दोस्त का बेटा निकला। जब भाटिया जी ने बलराज से इसका जिक्र किया तो बलराज ने उन्हे कुछ रकम देकर आग्रह किया कि वह टाइपराइटर वहां से खरीद लायें। 'लगता है, लड़के को पैसों की बहुत जरूरत रही होगी वरना वह ऐसी हरकत नहीं करता। इससे उसकी कठिनाई दूर हो जायेगी।'

जिस दिन बलराज की मृत्यु हुई, घर के अंदर और बाहर बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। मित्रों, संबंधियों और कुछेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों के अतिरिक्त, तरह-तरह के लोग, मछेरे, होटलों के बैरे, आस-पास के गरीब-गुरबा, यहां तक कि गलियों में घूमने वाले बच्चे भी वहां पहुंच गये। सारा घर एक सराय-सा बना हुआ था। बाद में मुझे पता चला कि उनके देहांत की खबर पाकर, मछेरों का एक टोला, बरसोवा से चल कर आया था, और वे लोग रात भर उनके पार्थिव शरीर के पास श्रद्धा से बैठे रहे थे। होटलों के बैरे वे लोग थे जिन्हें प्रबंधकों के विरुद्ध उनकी लंबी हड़ताल के दिनों में बलराज आर्थिक सहायता देते रहे थे। भीड़ में बैठे गरीब-गुरबा में से लगभग हर किसी के साथ, किसी न किसी समय बलराज का कोई निजी संबंध रहा था और उन सबके दिल में बलराज के प्रति गहरा स्नेहभाव पाया जाता था। मैं अभिभूत हुए बिना नहीं रह सका।

उन्हें किसी बात से इतनी खुशी नहीं मिलती थी जितनी लोगों से मिल कर। बसों, रेलगाड़ियों में सफर करते हुए तरह-तरह के लोगों से मिल कर वे बेहद खुश होते थे। एक बार, जब वह सिने कलाकार के नाते ख्याति प्राप्त कर चुके थे, हम दोनों बस द्वारा जम्मू से दिल्ली आये, और एक ही दिन में यह सफर पूरा किया। रास्ते में, हर पड़ाव पर, लोग उन्हें पहचान लेते और एक छोटी-सी भीड़ उनके इर्द-गिर्द जमा हो जाती। फिर, अक्सर किसी चाय की दुकान का कोई दुकानदार हठ करने लगता कि बलराज उसकी दुकान पर चाय पियें, जूते पालिश करने वाला कोई लड़का, उनके जूते पालिश करना चाहता, और चूंकि बलराज के कंधे से अक्सर कैमरा लटकता रहता था, बहुत से लोग उनके साथ तसवीर खिंचवाने का आग्रह करते। यह सब लगभग हर पड़ाव पर होता रहा था। मैंने उनके बहुत फोटोचित्र उतारे, और बलराज अपने प्रशंसकों के नाम और पते नोट करते रहे जिन्होंने उनके साथ तसवीरें खिंचवायी थीं। ऐसे लगभग तीस फोटो रहे होंगे। बंबई पहुंचने के लगभग दो सप्ताह बाद बलराज ने मुझे फोटो-चित्रों का एक पैकेट भेजा, साथ में पतों की एक खासी लंबी सूची थी, और अनुरोध किया कि मैं इन पतों पर प्रत्येक व्यक्ति को उसकी तस्वीर भेज दूं।

कुछ साल बाद उनके लिए भीड़ में घूमना कठिन हो गया पर अभी भी खुले आम लोगों के बीच घूमने की उनकी उत्सुकता बनी हुई थी। उन्होंने अपने लिए एक नकाब बनवा लिया ताकि कोई उन्हें पहचान नहीं पाये और वह जहां चाहें, घूम-फिर सकें। नकाब क्या था, एक मामूली-सी चीज थी। आंखों पर लगने वाला चश्मा (जिसमें शीशे नहीं थे) उसी से जुड़ी एक मसनूई नाक और

नीचे तितली-मूंछ। उसे पहने वह जहां चाहते, घूमते फिरते।

जहां एक ओर वह लोगों के बीच घूमते-फिरते थे वहां दूसरी ओर, वह खूब पढ़ते भी थे। वह तरह-तरह की गंभीर किताबें पढ़ते, साहित्य राजनीति, समाज-शास्त्र और इतिहास, और सामान्य रुचि की पुस्तकें, पर जासूसी उपन्यास पढ़ते मैंने उन्हें कभी नहीं देखा था। फिर भी उनमें कोई पंडिताऊ बात न थी, वह गहरी जानकारी रखते हुए भी हल्के-फुल्के ढंग से उसकी चर्चा किया करते थे।

वह इस बात को बड़ा महत्व देते थे कि जीवन में व्यक्ति का दृष्टि-क्षेत्र कैसा है। हर स्तर के लोगों से मिलने, गंभीर अध्ययन करने, और अपनी सामाजिक चेतना को बड़ी मेहनत से समृद्ध बनाने का उनका मुख्यत यही उद्देश्य होता था कि उनका दृष्टि-क्षेत्र सही और संतुलित हो। जिस गहरी भावना के साथ वह सूखा-ग्रस्त इलाकों का दौरा करते, या ऐसे स्थानों का जहां साम्प्रदायिक दंगे हुए थे, तो वह न केवल सामाजिक दृष्टि से उपयोगी बन पाने के लिए ही बल्कि यह जानने के लिए भी कि समाज में क्या कुछ हो रहा है। वह इसे एक कथाकार, लेखक और नागरिक के नाते अपनी गतिविधि का अभिन्न अंग मानते थे।

ऐसा था उनके व्यक्तित्व का गठन। विनयशील, बेहद मेहनती। जिसमें हद दर्जे की निजी दृढ़ता पायी जाती थी और जो जितना कुछ भी बन पाया था, केवल अपनी मेहनत के बल पर। अपनी दृढ़ता और घोर परिश्रम से न केवल उन्होंने ख्याति और उपलब्धियां प्राप्त की, एक खिला-निखरा बहुमुखी व्यक्तित्व भी पाया। हमारे कल का कलाकार कैसा होना चाहिए? शायद वह इसकी अद्भुत मिसाल थे। सुप्रसिद्ध पत्रकार और "सोशलिस्ट इंडिया" के भूतपूर्व संपादक इकबाल सिंह के शब्दों में :

"बलराज उदार हृदय, स्नेही व्यक्ति थे, यहां तक कि ये गुण उनमें दोषों की सीमा तक जा पहुंचे थे। अपने ध्येयों के प्रति उनमें अटूट निष्ठा पायी जाती थी—और उन ध्येयों में प्रमुख ध्येय स्वयं भारत ही था—और वे लोग जिन्हें वह अपने मित्र मानते थे। यही कारण है कि जो लोग उन्हें अच्छी तरह से जानते थे, वे बलराज को कभी भुलाये नहीं भूल सकते।…"

(सोशलिस्ट इंडिया, 21 अप्रैल 1973)